लेखक

दो शब्द

प्राणो के यमुनातट पर हृदयकुञ्ज में प्राणेश्वर से गुपचुप भाषा में स्वगत निवेदन को शब्दों में बाँधने का यह बाल-प्रयास कितना हास्यास्पद है। पर मन जो नहीं मानता। 'उसे' अपनाकर, पाकर छोड़ा भी कैसे जा सकता है, यद्यपि उस छलिया को अपनाना और पाना आहों और आँसुओं में जीवन को डुबाना है और, एक बार जो इस कूचे में आ गया वह लाख करने पर भी लौट नहीं सकता, जा नहीं सकता, पल्ला छुड़ा नहीं सकता। ऐसी है उसकी पकड़। हाँ, ऐसी है उसकी पकड़।

कहा भी क्या जाय, किससे कहा जाय और कैसे कहा जाय? 'वह' क्या नहीं जानता? सब कुछ तो जानता है पर कितना भोलाभाला 'अनजान' बना हुआ है! कैसे-कैसे हैं उसके नखरे! साफ छिपता भी नहीं, सामने आता भी नहीं। निराश होकर, थक कर लौटने की वेला में राह रोके खड़ा है, पीछा कीजिए तो फिर न जाने कहाँ गायब, गुम, एकदम गुम। यह आँखमिचौनी, धूपछाँह की क्रीड़ा जीवन भर चलती रहेगी, चलती ही रहेगी और ऐसा लगता है, जीवन के अन्तिम क्षणों में भी उसकी यह शरारत बन्द न होगी! कितना निठुर, कितना कठोर, परन्तु साथ ही कितना सदय, कितना कोमल, कितना प्रेमिल!

और उसके प्यार का कहीं और छोर भी है? रूप और रस का, शोभा और छवि का जाल बिछाये यह 'शिकारी' ओट में से किस अदा से

लेखक

दो शब्द

प्राणों के यमुनातट पर हृदयकुञ्ज में प्राणेश्वर से गुपचुप भाषा में स्वगत निवेदन को शब्दों में बांधने का यह बाल-प्रयास कितना हास्यास्पद है। पर मन जो नहीं मानता। 'उसे' अपनाकर, पाकर छोड़ा भी कैसे जा सकता है, यद्यपि उस छलिया को अपनाना और पाना आहों और आंसुओं में जीवन को डुबाना है और, एक बार जो इस कूचे में आ गया वह लाख करने पर भी लौट नहीं सकता, जा नहीं सकता, पल्ला छुड़ा नहीं सकता। ऐसी है उसकी पकड़। हाँ, ऐसी है उसकी पकड़।

कहा भी क्या जाय, किससे कहा जाय और कैसे कहा जाय? 'वह' क्या नहीं जानता? सब कुछ तो जानता है पर कितना भोलाभाला 'अनजान' बना हुआ है! कैसे-कैसे हैं उसके नखरे! साफ छिपता भी नहीं, सामने आता भी नहीं। निराश होकर, थक कर लौटने की वेला में राह रोके खड़ा है, पीछा कीजिए तो फिर न जाने कहाँ गायब, गुम, एकदम गुम। यह आंखमिचौनी, धूपछांह की क्रीड़ा जीवन भर चलती रहेगी, चलती ही रहेगी और ऐसा लगता है, जीवन के अन्तिम क्षणों में भी उसकी यह शरारत बन्द न होगी! कितना निठुर, कितना कठोर, परन्तु साथ ही कितना सदय, कितना कोमल, कितना प्रेमिल!

और उसके प्यार का कहीं और छोर भी है? रूप और रस का, शोभा और छवि का आगार छिपाये यह 'निराली' ओट में से फिर सदा के

साथ अपना 'शिकार' किया करता है। जब तक आप उसकी पकड में नही आये, नाना प्रकार की मनुहारें, नाना प्रकार की आरजू-मिन्नतें, पैरो पडता है, सर पटकता है, रोता और गिडगिडाता है, क्या-क्या नाटक नही रचता ? परन्तु कैसा अचरज है कि एक बार उधर मुडिये, उसे पकडने और पाने का इरादा कीजिये कि वह छलिया खिसक जाता है और जनम-जनम तडपाता है, तडपने के लिए छोड देता है—ऐसे है उसके विचित्र खेल, ऐसी है उसकी मधुमय विषमय लीला। उसके जाल में एक क्षण के लिए भी फँसकर फिर कभी कोई बाहर आ सका है, बच सका है ? ऐसा है उसका विकट सर्वग्रासी एकागी प्रेम।

निश्चय ही यह प्रेम सर्वथा एकागी ही है—अकेला उसीका है, ऐसा ही मानना पडता है—प्रेमी भी वही, प्रेमास्पद भी वही और प्रेम भी वही। नाना छवियो में उसीकी छवि, उसीकी शोभा झलक रही है—और इस छवि का पान करने वाला भी तो वही है। दूसरा और है कौन ? स्वय पुष्प, स्वय मधु, स्वय मधुप। सहसा विश्वास नही होता पर सत्य तो यही है। और जब 'पर्दा' खुलता है तो हँसी आती है अपने को 'प्रेमी' मान कर, इतना मान-गुमान करने पर। ऐसी विवश घडियो का यह स्वगत चिन्तन, यह 'सालिलॉकी' सर्वथा अपने लिए, अपने को ढाढस देने के लिए, अपने मन को बहलाने और सहलाने के लिए है। आपका भी दिल इससे कुछ बहल जाय, आप अपने दर्द भरे दिल को इससे कुछ सहला सकें तो फिर क्या पूछना। दु ख और दर्द के तार सब हृदयो में समान रूप से बज रहे है, कही मुखर, कही मौन। आपके हृदय का तार इस 'स्पर्श' से कुछ 'झकार' ले सके तो यही समझूँगा कि मेरे दु ख-दर्द में आपने हिस्सा बटाया। और सच पूछिये तो इसके अतिरिक्त साहित्य की कुछ और भी सार्थकता है—ऐसा मानने को मै तैयार नही।

२/६ बेली रोड, पटना
अनन्त चतुर्दशी, २०१५वि०

—माधव

महामहिमामयी माँ आनन्दमयी

महामहिमामयी

माँ आनन्दमयी

के

चरण-कमलों में

सप्रीति

माधव

विषय-सूची

लेख		पृष्ठ-संख्या

बंदौं सबहिं राम के नाते

विश्व की विविध विषमताओं में एक परम रहस्य की अद्भुत लीला चरितार्थ हो रही है। जीवन के चढ़ाव और उतार से एक प्रच्छन्न प्रवाह अबाध गति से बहता चला जा रहा है। सुख और दुःख के मूल में चलनेवाली अन्तर्धारा को बाह्य विषमता स्पर्श तक नहीं कर सकती। जीवन और मृत्यु को प्रेरित करने वाली मानव-हृदय की अन्तर्ज्योति को जगत का निखिल अन्धकार प्रभावित नहीं कर सकता। इस विचित्र-रूप विश्व की तह में एक दिव्य सनातन रस निरन्तर प्रवाहित हो रहा है, जहाँ जीवन की जटिलता, विषमता तथा विरोध

पहुँच नही पाते। हमारे क्रान्तदर्शी कवियो ने ज्ञान की इसी मूल आभ्यन्तरिक ज्योति, हृदय की अन्तर्धारा तथा परदे के भीतर की उस अनुपम छवि के आलोक पर बेसुध होकर प्राणों का रस लुटाया था। वाल्मीकि और व्यास ने, तुलसी तथा सूर ने, गेटे तथा होमर ने, शेक्सपियर तथा शेली ने, विश्व के सभी अमर कवियों ने 'भीतर' पैठकर 'रस' का पान किया था और इसी आनन्दोन्माद के व्यतिरेक मे बेसुध हो, जीवन और मृत्यु के ऊपर उठकर आनन्द की वंशी फूँकी थी। इस आनन्दप्रवाह की एक घूँट से विश्व की आतुर पिपासा शान्त हो गयी, इस अतुल छवि की एक झाँकी से जगत् की तृषित आँखें जुडा गयीं।

विश्व के इस विराट् अभिनय का एक ही नायक है। जगत् के इस नाना नाम और रूपों में एक ही नाम और एक ही रूप है। दुनिया के इन असीम स्वप्नों की तह में एक ही सत्य है, एक ही चिरन्तन प्रवाह है। विश्व के यावत् पदार्थ 'उसी' के स्पर्श के लिए व्याकुल हैं, लालायित हैं, और सभी वस्तुएँ 'उसी' एक परम वस्तु के साथ सम्बन्ध चरितार्थ कर रही हैं। विश्व को असत्य, मिथ्या, माया, प्रवचना, अविवेकादिपूर्ण मानकर इसके प्रति विरक्ति उत्पन्न करना सशयवाद (Scepticism) ही के नाम से पुकारा जायगा। परमात्मा को विश्व की विविध लीलाओं से परे मानकर तथा इस जगत् को परमात्मा से रहित मानकर ज्ञान और विवेक की शुष्क खोज मे जीवन भले ही खपा

दिया जाय परन्तु उस शुष्कता में मानव-हृदय को रुचिर शान्ति और अतुल आनन्द तथा उत्फुल्लता का आभास भी नहीं मिल सकता। भला घृणा, विरक्ति तथा उदासीनता किससे करें? इस 'मिथ्या' जगत से? अपना 'घर' छोड देने पर परमात्मा का घर कहां मिल सकता है? क्या अपने ही घर को 'उस' का घर बनाकर उसी के दिव्य आलोक से अपने अन्धकारपूर्ण अन्तस्तल को आलोकित न कर लें? विश्वनाटक के अधिनायक की निखिल लीला से आँखें मूँद कर 'उसे' हम कहाँ देख सकते हैं?

चराचर की सारी वस्तुएँ केन्द्रोन्मुख हो उसी 'एक' में लय होना चाहती हैं, अपने अन्तर में उसी 'एक' के स्पर्श के लिए व्याकुल हैं। हमारे मनीषी, परिभू स्वयम्भू कवियों ने सृष्टि की इस 'व्याकुलता', इस 'पिपासा', इस आन्तरिक क्षुधा को अपने भीतर अनुभव किया और सभी वस्तुओं में उसी, एक लीलामय की अद्भुत अपार लीला देखी। उनका जीवन साधना एवं चिन्तन की लीलाभूमि था। वे अपने भीतर विश्व को तथा विश्व के भीतर अपने को देखना जानते थे। इस रहस्य के मूल में बसनेवाले सनातन सम्बन्ध (eternal contact) को उन्होंने भली भाँति देखा, सुना और इस लीलामाधुरी पर अपने को न्योछावर कर दिया, आत्मविस्मृत हो विराट् निराकार में अपने साकार स्वरूप की समस्त सीमाओं को लय कर दिया!

जिस प्रकार इस विराट् विश्व के रंगमंच का नायक एक सर्वव्यापी परमात्मा है, उसी प्रकार रामायणरूपी नाटक के नायक भगवान रामचन्द्र हैं और जिस भाँति विश्व के यावत् पदार्थ उसी 'एक' से अपना सम्बन्ध चरितार्थ कर रहे हैं उसी भाँति रामायण मे आये हुए सभी पात्रों का सम्बन्ध किसी-न-किसी प्रकार रामचन्द्र से है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' कह कर कवि या भक्त को शान्ति नही मिलती, वह तो मन और वचन से अगम्य उस परम रूप को भी अपनी कल्पना से चित्रित कर ही डालता है और विश्व को इस रूप की सुषमा में अपार शान्ति तथा अतुल आनन्द मिलता है। विश्व अपनी सुन्दरता के कारण आकर्षक नहीं है प्रत्युत् वह आकर्षक इसलिए है कि इसकी सुन्दरता में एक अव्यक्त परम रूप की सुन्दरता प्रतिभासित हो रही है, छलक रही है। इसकी क्षणभंगुरता के परदे मे अमरत्व की मधुर क्रीडा हो रही है। एक बार परदा उठाइये—आँखें अघा जायँगी उस छवि को देखकर! 'घूँघट का पट' खोल देने पर आकर्षण की वारुणी किसे नहीं मोह लेती! परदे तर की सुन्दरी को देख लेने पर विश्व की सारी शोभा फीकी मालूम होने लगती है। जिन नयनों मे वह 'छवि' बसती है वहाँ से और छवि लज्जित तथा कुण्ठित हो सिहर-सिहर अपने वाणों को समेटने लगती है। उस मस्ती मे, उस उन्माद मे जो आनन्द है, जो उल्लास है उसे दुनिया क्या समझ सकती है? एक बार उस 'रस' की

एक घूँट पी लेने पर जन्मजन्मान्तर की खुमारी नहीं मिटती ! इसके बाद नीरस जैसी कोई चीज ही नहीं रह जाती—एक रस, एक राग, एक तान, एक रूप, एक अखण्ड दिव्य आनन्द का दिव्य उन्माद !

यह जगत मिथ्या कैसे ? यह तो 'सियाराममय' है। यह एक आर्ष कविता है, एक अनन्त संगीत है जिसका मधुपान करने के लिए अपनी खुदी को गँवा देना होता है। इसकी कीमत चुकाने के लिये कितने तैयार हैं ? अपनी दुनिया मिटाकर, अपनी सीमामय परिधि की रेखा को मिटाकर इस विराट् मिलन में जहाँ केवल 'सीताराम' ही हैं, सम्मिलित होने के लिए कितने तैयार हैं ? दर्द-दीवानी मीरा ने इस रस को पीया था, कबीर ने, सूर ने और तुलसी ने पीया था ! मंसूर हल्लाज और ईसा ने इस अमृत का पान किया था। निश्चय ही तुलसी का रस भी मधुर है। सूर की बेहोशी और मीरा की आत्म-विस्मृति जनसाधारण की पहुँच से बाहर की है, कबीर की फक्कड़ाना मस्तमस्ती बहुत ही कठिन है, पर तुलसी की साधना, तन्मयता तथा अनुभूति को हम सभी थोड़ा बहुत समझ सकते हैं और अपने जीवन को प्रेम, सौन्दर्य एवं आनन्द के प्रवाह में इस भाँति परिचालित कर सकते हैं, इस 'राजमार्ग' पर इतनी सुगमता और सुख से चल सकते हैं कि 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति' में सन्देह होने लगता है। मीरा और सूर हमें इस पार्थिव आधार से बहुत शीघ्र ऊपर

उठा कर उस परमात्मभाव में लय कर देते हैं, जहाँ अनन्त शीतलता और अमर शान्ति है परन्तु उस उन्माद को जीवन में सदा के लिए उतारना कठिन है। पर तुलसीदास हमारे हृदय को धीरे-धीरे उदार और उन्नत बनाते हुए 'रस' के उस महासागर मे हमारे क्षुद्र विन्दु को सदा के लिए लय कर देते हैं–जहाँ से लौटने की कोई कल्पना तक नहीं कर सकता—जहाँ हमारा 'स्वार्थ' विश्व के कण-कण में बिखर जाता है और सर्वत्र उसी एक रूप की अपार शोभा देख हम आनन्दजनित उन्माद में गा उठते हैं—

'बन्दौं सबहिं राम के नाते'

मेरे जनम-मरण के साथी !

मुझमें कहाँ था शौक़े यह सोज़ो गुदाज़ की,
अय सोज़े शमआ तू ने ही परवाना कर दिया।

मुझमें जलने की लालसा कहाँ थी ! ओ दीपक, तू ने ही जलाकर मुझे परवाना बना दिया !

इस लुका-छिपी में, इस धूप छाँह में, ओ मायावी ! ओ चतुर खिलाड़ी ! मेरे प्राणों के साथ कैसे-कैसे खेल खेला करते हो ! यह तुम्हारी ललित लीला, यह तुम्हारी मोहनी माया मुझे एक क्षण भी विराम नहीं लेने देती ! आते हो, अचानक, चुप-चाप, नीरव निशीथ में पैरों की चाप छुपाये. पैजनी की रुनझुन

रे मन ! रे प्राण ! हृदय ! नयन ! पीओ, पीओ, इस अमृत-सिन्धु में डूबो, डूब जाओ ऐ हृदय ! ऐ आँखें ! अपने स्वामी को देखो ! देखते-देखते ऐसा देख लो कि फिर कुछ देखने को रहे ही नहीं । जन्म-जन्म की साध ! आज अपना भाग्य सराहो, आज प्रभु के चरणतल में लोटो ! आज तुम धन्य हो गयी ! ओ मेरे प्राणों की चिर विकल प्यास ! तुम्ही तो ढूँढ़ लायी हो इस अपरूप रूप को, इस मधुर मनोहर श्यामसुन्दर को ! अहा ! प्रभु के चरणनख की विद्युत्-द्युति ने मेरे अन्तस को आलोकित कर दिया है, जगमग कर दिया है ! यह प्रकाश ! यह शोभा !! यह आनन्द !!!

प्रभो ! मैं यह क्या देख रहा हूँ ? क्या मैं यह स्वप्न देख रहा हूँ, क्या यह कल्पना का लोक है ? प्यारे, मेरे जीवनधन ! आज तो तुम संसार से भी अधिक स्पष्ट प्रत्यक्ष हो रहे हो; संसार तो मानो तुम्हारे आलोक में विस्मित, तुम्हारे रूप पर विमुग्ध तुम्हारे चरणों के नीचे लोट रहा है । संसार के मस्तक पर चरण रखकर तुम आये हो देव ! और मुझे भी अपनी गोद में ऊपर उठा रहे हो । मुझे भी उठा लोगे प्रभु ! अरे ! इस संसार की क्या हस्ती कि मुझे छू भी सके ! मैं तो हरि की गोद में हूँ, हरि ने मुझे अपने हृदय मे छिपा रखा है । मैं अपनी दयामयी जननी माँ कृष्ण की गोद मे हूँ । वही मेरा स्वामी, वही मेरी माँ । ससार की याद ही इस समय क्यों आवे ? श्री हरि: शरण मम !

हवाले करके जिस्मो-जाँ किसी के
हुए फारिग हैं शादी दम-बदम है।

आत्मसमर्पण करके बिल्कुल निश्चिन्त हो गये। अब तो हर समय आनन्द ही आनन्द है।

अरे! एक क्षण भी तो नहीं हुआ और ओ छलिया! ओ कपट! फिर वही लुका-छिपी! वही धूप-छाँह! अभी भर आँख देख ही कहाँ पाया था हरे! पूरा एक क्षण भी नहीं बीतने पाया और तुम्हारी छवि झिलमिल-झिलमिल सी होकर पता नहीं, कहाँ किस अदृश्य में छिप गयी! प्रभो! इतनी दया कर जब आये ही तो एक क्षण और ठहर जाने में क्या लगता! मैं तो तुम्हारा ही बन्दी हूँ, इतना क्यों भरमा रहे हो? अधिक नहीं, बस एक बार भर आँख देख लेता, एक क्षण तुम्हारे रूप को निरख पाता, एक बार तुम्हारे परम पावन चरणों को अपने भूखे-प्यासे प्राणों में संस्पर्श कर पाता! यह तुम्हारी कैसी निष्ठुर लीला है, ओ मेरे जन्म-जन्म के प्यारे साथी!

और तुम तो मेरे जन्म मरण के साथी हो देव! संसार में जब कोई भी 'अपना' नहीं होता तब भी तुम मेरा अपना—एकमात्र 'अपना' बनकर, सदा-सर्वदा साथ बने रहते हो! सब कोई मुझे छोड़ दे पर तुम मुझे कैसे छोड़ोगे? जितने इस हृदय के आँगन में आये और चले गये, आज उनकी धूमिल छाया भी नहीं है। भूल से, मोह और आसक्ति से इन्हें ही अपने 'प्राणों का

क्या हर समय मैं अपने हरि की गोद मे नहीं हूँ ? उसी का सिरजा हुआ, उसी का भेजा हुआ, उसी की विश्व-गोद में मैं स्वच्छन्द, निश्चिन्त, निर्भय, निर्द्वन्द्व, अलमस्त विचर रहा हूँ। फिर भी मन में इतनी बेचैनी क्यों है ? क्यों उससे रो-रो कर प्राण बार-बार यही भीख माँग रहे हैं ?—

तनिक हरि चितवो हमरी ओर।
हम चितवत तुम चितवत नाहीं, दिल के बडे कठोर॥

'लौ'

If thy soul is to go to higher spiritual blessedness it must become a woman, however manly thou mayest be among men

—*Newman*

ज्यों तिरिया पीहर बसै, सुरति रहै पिय माहिं।
ऐसे जन जग में रहैं, हरि को भूलत नाहिं॥

विवाहिता स्त्री मायके में रहते हुए जिस प्रकार मन, चित्त और प्राण से अपने पति का ही स्मरण करती रहती है, उसी प्रकार इस संसार में रहते हुए भी हम अपने प्राणाराम जीवन-धन हरि का ही स्मरण करते रहें—यही सभी सन्तों और समस्त धर्मग्रन्थों के उपदेश का सारतत्त्व है। जीव को

यही साधना है। मनुष्य का यही परम कर्तव्य, सर्वोत्तम धर्म है। मन को हरि मे डालकर मस्त हो जाना ही आनन्द की चरम अवस्था है। जप, तप, पूजा, पाठ, तीर्थ, व्रत, सेवा, दान, सत्संग, सदाचार सभी प्रकार के सत्कर्मों का फल है श्री वासुदेव का अखण्ड स्मरण। यह स्मरण ही भगवान के चरणों मे सच्ची प्रणति है, यह स्मरण ही सर्वात्मसमर्पण की सच्ची अभिव्यक्ति है। घनीभूत अखण्ड स्मरण की हँसती हुई ज्योति का नाम है 'लौ'। साधना का प्राण है स्मरण और 'लौ' है स्मरण की आत्मा।

'लौ' का साधारण अर्थ है दीपक का जलता हुआ प्रकाश। दीये मे तेल भर दिया जाता है, बत्ती डाल दी जाती है और सलाई से उसे एक बार जला देते हैं। फिर जब तक तेल दीये में है, बत्ती बनी हुई है और बाहर के आँधी-तूफान से वह सुरक्षित है तब तक वहाँ प्रकाश बना रहेगा, लौ जलती रहेगी। ध्यान इस बात का रखना होगा कि तेल समाप्त न होने पावे, बत्ती बुझने न पावे। और जहाँ अखण्ड दीप की बात है वहाँ तो सतत सावधान रहना ही पडेगा। एक क्षण की विस्मृति में दीपक के बुझ जाने और घोर अन्धकार के घिर आने की आशंका है।

ठीक यही बात अन्तर की 'लौ' के सम्बन्ध में है। वहाँ भी सतत सावधान रहना पडता है। एक पल के लिए भी वृत्ति बहिर्मुख हुई नहीं कि सब कुछ मिटा। मन, प्राण, चित्त, बुद्धि,

आत्मा सभी श्रीहरि के चरणों में झरते हुए मकरन्द का पान करते रहें। वहीं उस परम दिव्य स्पर्श की पावन अनुभूति में बेसुध बने रहें। बाहर आने का ध्यान भी न रहे, बाहर के किसी भी पदार्थ के अस्तित्व का भान भी न हो। कोई रूप आँखों को लुभा न सके। कोई शब्द कानों को मोह न सके। स्मृति सदा हरि के चरणों को छूती रहे। प्राण सदा प्रभु के पाद-पद्मों में प्रणिपात करते रहें। यही अखण्ड जागरण है।

हंसा पाये मानसरोवर ताल तलैया क्यों डोले?

मन मस्त हुआ तब क्यों बोले?

वहाँ के आनन्द और शोभा का वर्णन कैसे किया जाय? वहाँ की तो चर्चा भी नहीं हो सकती। बात चलते ही जी थहराने लगता है। जिसने एक बार भी उस रस का आस्वादन किया है उसके लिये फिर वहाँ से हटना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव है।

सच्चे प्रेमी को प्रियतम का स्मरण करना नहीं पड़ता। जब तक स्मरण करना पड़ता है, तब तक स्मरण और विस्मरण का युद्ध जारी है; तब तक तो 'उस' से प्रेम क्या, परिचय भी नहीं हुआ ऐसा ही मानना चाहिये। पत्नी पति के नाम की माला नहीं जपती। वह एकान्त में आँखें मूँद कर, आसन मारकर, प्राणायाम आदि करके पति के ध्यान में डूबने नहीं जाती। वह सब कामों से छुट्टी लेकर मन्दिर या सेवन, तीर्थों में घूमना, दान पुण्य करना आदि में अपने जीवन को

इसलिये नहीं लगाती कि इनके फलस्वरूप उसे अपने पति का स्मरण ध्यान होगा। वैसा करना उसके लिए अस्वाभाविक होगा। ऐसा करके वह स्वयं अपनी दृष्टि में तथा लोगों की दृष्टि में उपहासास्पद बनेगी। वह ऐसा करने ही क्यों जायगी? अपने प्राणप्यारे प्रीतम के स्मरण के लिए भला योग, जप, तप, ध्यान और एकान्त की आवश्यकता ही क्या है? वह स्मरण स्मरण नहीं जो करने से हो। वह ध्यान ध्यान नहीं जिसमें डूबने के लिए घोर परिश्रम और कठिन प्रयत्न करना पड़े। वह प्रेम प्रेम नहीं जिसमें प्रेमास्पद की सहज स्मृति न हो। वह प्यार प्यार नहीं जो बिना बुलाये, अपने आप ही उमड़-घुमड़ कर हमारे हृदय के आँगन में न बरसे।

विरह जगावै दरद को, दरद जगावै जीव।
जीव जगावै सुरत को, पंच पुकारै पीव॥

रोम-रोम में प्रियतम की पुकार है। रोम-रोम उसकी प्यार भरी स्मृति में पगे हुए हैं। और कोई वस्तु है ही नहीं जो चित्त को एक क्षण के लिए भी अपनी ओर आकृष्ट कर सके। प्रति-पल प्यारे की स्मृति एक अजीब अदा के साथ आ-आकर प्राणों को नहला जाती है, सराबोर कर जाती है। ध्यान जमाने के लिये त्राटक आदि मुद्राओं का सहारा नहीं लेना पड़ता और न आँखें ही बन्द करनी पड़ती हैं। उनके नूपुरों की ध्वनि सुनने के लिए कान मूँदने नहीं पड़ते और न पहाड़ की खोह में जाकर एकान्त वास की ही आवश्यकता है, यहाँ तो—

आँख न मूँदौं कान न रूँधौं, तनिक कष्ट नहिं धारौं।
खुले नैन पहिचानौं हँसि हँसि, सुन्दर रूप निहारौं॥

खुली आँखों अपने प्राणेश्वर को देखूँ तभी तो देखना है। खुले कान उनकी वंशी और नूपुर की ध्वनि सुन सकूँ तभी तो सुनना है। सारे रूप, विश्व के विविध रूप उस एक अपरूप रूप में पलट जायँ, जगत का सारा कोलाहल, हाहाकार और चीत्कार मुरली की मधुर ध्वनि होकर हमारे कानों में समा जाय; जो कुछ सुनूँ, देखूँ, स्पर्श करूँ सभी में प्राण-वल्लभ का 'मौन निमन्त्रण' स्पष्ट देख-सुन पड़े तब तो समझना चाहिए कि उनके प्रेम का आस्वादन हमारे प्राणों ने किया है। नहीं तो, सब कुछ कोरा हठ योग ही है।

एक क्षण के लिए भी जिसे हरि का स्पर्श मिल गया वह उस रस को पूरा पिये बिना रह कैसे सकता है? वहाँ तो पग-पग पर एक अद्भुत आकर्षण बलात प्राणों को किसी 'अपने' की ओर खींचे लिये जा रहा है। और इस मार्ग से चलते हुए एक विचित्र उल्लास संगी बना रहता है। वहाँ मिलन और विरह का अद्भुत सम्मिश्रण है। वह अखण्ड मिलन एवं आमरण विरह की अवस्था है। वहाँ मिलन और विरह दोनों घुले मिले हुए हैं। उस स्थिति में काम, क्रोध, लोभ आदि की गति है ही नहीं। वहाँ माया की मोहिनी नहीं चलती। वहाँ तो सतत जागरण है। वहाँ की बेहोशी संसार की सारी बुद्धि से परे की है और इसीलिये संसार की किसी भी वस्तु या

करना प्रेम-साधना की एक छिपी हुई साध है। और वहाँ तो प्रियतम की ओर से प्रेम की अखण्ड वर्षा होती रहती है जिसमें प्रेमी के प्राण सदा नहाते रहते हैं। यही बेखुदी की हालत है।

हमन हैं इश्क मस्ताना, हमन को होशियारी क्या ?
रहैं आजाद या जग से, हमन दुनिया से यारी क्या ?
जो बिछुडे हैं पियारे से, भटकते दरबदर फिरते।
हमारा यार है हम में, हमन को इन्तजारी क्या ?

हृदय-देश में छिपा हुआ वह हमारा यार कितनी दूर सर्वथा अपरिचित-सा था। अन्तर का पट हटा और 'वह' सामने आया। और सामने आने पर,

ऐसे पियै जान न दीजै हो।
चलो री सखी! मिलि राखिये नैननि रस पीजै हो॥

युग-युग से, जन्म-जन्म से जिस प्राणाराध्य की खोज में मेरी आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में, एक रूप से दूसरे रूप में, एक नाम से दूसरे नाम में ढलती आयी है उस परम प्रियतम को पाकर अब क्यों छोड़ना ? आओ, उसे सदा के लिये प्राणों में छिपा लें और आँखों की कोठरी में पुतली का पलंग बिछा कर और बाहर से पलकों की चिक डाल कर उसके रस को पीते रहें। इसके आगे अब करना ही क्या रहा ?

है प्रिय का पंथ निराला

Speak to Him then for He hears, and
Spirit with spirit can meet—
Closer is He than breathing,
And near than hands and feet.

—Tennyson.

ऐसे परिचय से तो यह 'अपरिचय' ही अच्छा ! तुम अपनी महा महिमा के गौरव में विराजमान थे, मैं अपने तुच्छ क्षुद्रत्व को लेकर जगत् के एक कोने में पड़ा हुआ था। तुम केवल इसीलिए 'अनन्त' और जाने क्या-क्या बने हुए तीनों भुवन और चौदहों लोक तथा इनसे भी परे जो देश है, काल के जन्म के पूर्व जो काल था और काल की इति के परे जो काल रहेगा,

करना प्रेम-साधना की एक छिपी हुई साध है। और वहाँ तो प्रियतम की ओर से प्रेम की अखण्ड वर्षा होती रहती है जिसमें प्रेमी के प्राण सदा नहाते रहते हैं। यही बेखुदी की हालत है।

हमन हैं इश्क मस्ताना, हमन को होशियारी क्या ?
रहैं आजाद या जग से, हमन दुनिया से यारी क्या ?
जो बिछुडे हैं पियारे से, भटकते दरबदर फिरते।
हमारा यार है हम में, हमन को इन्तजारी क्या ?

हृदय-देश में छिपा हुआ वह हमारा यार कितनी दूर सर्वथा अपरिचित-सा था। अन्तर का पट हटा और 'वह' सामने आया। और सामने आने पर,

ऐसे पियै जान न दीजै हो।
चलो री सखी ! मिलि राखिये नैननि रस पीजै हो ॥

युग-युग से, जन्म-जन्म से जिस प्राणाराध्य की खोज में मेरी आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में, एक रूप से दूसरे रूप में, एक नाम से दूसरे नाम में ढलती आयी है उस परम प्रियतम को पाकर अब क्यों छोड़ना ? आओ, उसे सदा के लिये प्राणों में छिपा लें और आँखों की कोठरी मे पुतली का पलंग बिछा कर और बाहर से पलकों की चिक डाल कर उसके रस को पीते रहें। इसके आगे अब करना ही क्या रहा ?

है पिय का पंथ निराला

Speak to Him thou for He hears, and
Spirit with spirit can meet—
Closer is He than breathing,
And near than hands and feet.

—*Tennyson.*

ऐसे परिचय से तो वह 'अपरिचय' ही अच्छा! तुम अपनी महा महिमा के गौरव में विराजमान थे, मैं अपने तुच्छ क्षुद्रत्व को लेकर जगत् के एक कोने में पड़ा हुआ था। तुम अकल अनीह अव्यक्त और जाने क्या-क्या बने हुए तीनों भुवन और चौदहों लोक तथा इससे भी परे जो देश है, काल के जन्म के पूर्व जो काल था और काल की इति के परे जो काल रहेगा,

धूमिल हो गयी, भूल गयी। इसके बाद की कथा बहुत ही करुण और मर्मस्पर्शी है। उसके दाग अब भी हृदय पर बने हुए हैं, वे धब्बे अब तक नहीं धुले। कहाँ-कहाँ उलझा, कहाँ-कहाँ अटका। कहीं रूप में भरमा, तो कहीं स्पर्श की व्याकुलता प्राणों को, मन, चित्त, बुद्धि को विमूढ कर गयी। कहीं उलझी हुई अलकों में मन उलझा तो कहीं अमिय हलाहल मद भरे नयनों के तीखे नुकीले बाणों में प्राण बिंधे। वह फिसलन! वह आत्म-विस्मृति। उसकी स्मृतिमात्र से अन्तस्तल में शत-शत वृश्चिक दंशन होने लगता है और बार-बार 'मनुष्य की कृतघ्नता' का स्मरण कर हृदय काँप उठता है।

मैं खूब निश्चिन्त था। सोचता था तुम असीम, अनन्त, महान्, विराट् हो, मुझ क्षुद्रातिक्षुद्र की खबर तुम रक्खो, यह कब सम्भव था! परन्तु अब यह क्या देख रहा हूँ। अवाक् हूँ तुम्हारी कुशलता पर। तुम्हारी नजर बचा कर, छिप कर मैं तुम्हारी बगल-से निकल जाना चाहता था। असंख्य प्राणियों में मुझ एक छोटे-से जीव के लिये तुमको अवकाश इतना कहाँ कि मेरी सारी बातें जान सको, सबका लेखा-हिसाब रख सको। परन्तु हाय, हाय, यह क्या हुआ? बिना बुलाये अचानक, अनायास, हठात् तुम आकर मेरे जीवन-पथ में खड़े हो गये। हरे राम राम, तुम कहीं भी मुझे चुपचाप शान्ति से रहने नहीं दोगे? यह तुम्हारी कैसी माया है, कैसे खेल हैं! तुम मुझे मेरी अपनी इच्छा के अनुसार स्वतन्त्र चलने क्यों

नहीं देते ? जिस दिशा में बढ़ना चाहता हूँ तुम आगे राह रोके खड़े हो। तुम मुझे कहाँ ले चलना चाहते हो बोलो न ? तुम्हारा मूक संकेत मैं क्या समझूँ ? मुझे क्यों परेशान कर रहे हो ? बार-बार वही शरारत ! मुझे चलने न दो अपने आप जहाँ और जैसे मैं चलना चाहूँ। परन्तु तुम तो एक अजीब हठी निकले। बताओ तो क्या यही तुम्हारी माया है ? मेरा पिण्ड छोड़ क्यों नहीं देते ? डूबता हूँ डूबने दो, विष खाकर मरता हूँ मरने दो ! मैं तुम्हें छोड़ना चाहता हूँ पर तुम नहीं छोड़ते !

मैं हूँ मोह नगर का पक्षी, 'उस पथ' का रहस्य क्या जानूँ ?

और इस बार का तुम्हारा रूप ! क्या कहूँ, कैसे कहूँ ? तुम्हारे वे आश्वासन के वचन ! 'ओ भोले प्राणी ! रूप की ही तेरी प्यास है न ? लो मेरा रूप देखो—फिर कुछ देखना न रह जाय ! रस के लिये ही तड़प रहे हो न ? लो मेरा यह अमृत-रस पियो जिसे पीकर फिर पीने की कोई वासना न रह जाय। तुम्हारे अङ्ग-अङ्ग किसी सुकोमल, सुस्निग्ध स्पर्श के लिये ही व्याकुल हैं न ? लो मेरा यह शीतल स्पर्श, मेरे अङ्ग का स्पर्श, जिसकी कोमलता कहीं है ही नहीं। यह रूप, ऐसा रस, और इतना प्यारा स्पर्श तुम्हें कहाँ मिलेगा ! मेरे ही रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द के एक कण मात्र से जगत् का समस्त सौन्दर्य, समस्त माधुर्य, समस्त लावण्य और समस्त स्निग्धता अपना नाम सार्थक कर रही है। उनकी वंसी डाल कर मैं तुम्हें अपनी

धूमिल हो गयी, भूल गयी। इसके बाद की कथा बहुत ही करुण और मर्मस्पर्शी है। उसके दाग अब भी हृदय पर बने हुए हैं, वे धब्बे अब तक नहीं धुले। कहाँ-कहाँ उलझा, कहाँ-कहाँ अटका। कहीं रूप में भरमा, तो कहीं स्पर्श की व्याकुलता प्राणों को, मन, चित्त, बुद्धि को विमूढ कर गयी! कहीं उलझी हुई अलकों में मन उलझा तो कहीं अमिय हलाहल मद भरे नयनों के तीखे नुकीले बाणों में प्राण बिंधे! वह फिसलन! वह आत्म-विस्मृति! उसकी स्मृतिमात्र से अन्तस्तल में शत-शत वृश्चिक दंशन होने लगता है और बार-बार 'मनुष्य की कृतघ्नता' का स्मरण कर हृदय काँप उठता है!

मैं खूब निश्चिन्त था। सोचता था तुम असीम, अनन्त, महान्, विराट् हो; मुझ क्षुद्रातिक्षुद्र की खबर तुम रक्खो, यह कब सम्भव था! परन्तु अब यह क्या देख रहा हूँ। अवाक् हूँ तुम्हारी कुशलता पर। तुम्हारी नजर बचा कर, छिप कर मैं तुम्हारी बगल-से निकल जाना चाहता था। असंख्य प्राणियों में मुझ एक छोटे-से जीव के लिये तुमको अवकाश इतना कहाँ कि मेरी सारी बातें जान सको, सबका लेखा-हिसाब रख सको। परन्तु हाय, हाय, यह क्या हुआ? बिना बुलाये अचानक, अनायास, हठात् तुम आकर मेरे जीवन-पथ में खड़े हो गये! हरे राम राम, तुम कहीं भी मुझे चुपचाप शान्ति से रहने नहीं दोगे? यह तुम्हारी कैसी माया है, कैसे खेल हैं! तुम मुझे मेरी अपनी इच्छा के अनुसार स्वतन्त्र चलने क्यों

नहीं देते ! जिस दिशा में बढ़ना चाहता हूँ तुम आगे राह रोके खड़े हो। तुम मुझे कहाँ ले चलना चाहते हो बोलो न ? तुम्हरा मूक सकेत मैं क्या समझूँ ? मुझे क्यों परेशान कर रहे हो ? बार-बार वही शरारत ! मुझे चलने न दो अपने आप जहाँ और जैसे मैं चलना चाहूँ। परन्तु तुम तो एक अजीब हठी निकले । बताओ तो क्या यही तुम्हारी माया है ? मेरा पिण्ड छोड़ क्यों नहीं देते ? डूबता हूँ डूबने दो, विष खाकर मरता हूँ मरने दो ! मैं तुम्हें छोड़ना चाहता हूँ पर तुम नहीं छोड़ते !

मैं हूँ मोह नगर का पक्षी, 'उस पथ' का रहस्य क्या जानूँ ?

और इस बार का तुम्हारा रूप ! क्या कहूँ, कैसे कहूँ ? तुम्हारे वे आश्वासन के वचन ! 'ओ भोले प्राणी ! रूप की ही तेरी प्यास है न ? लो मेरा रूप देखो—फिर कुछ देखना न रह जाय ! रस के लिये ही तड़प रहे हो न ? लो मेरा यह अमृत-रस पियो जिसे पीकर फिर पीने की कोई वासना न रह जाय। तुम्हारे अङ्ग-अङ्ग किसी सुकोमल, सुस्निग्ध स्पर्श के लिये ही व्याकुल हैं न ? लो मेरा यह शीतल स्पर्श, मेरे अङ्ग का स्पर्श, जिसकी कोमलता कहीं है ही नहीं। यह रूप, ऐसा रस, और इतना प्यारा स्पर्श तुम्हें कहाँ मिलेगा ! मेरे ही रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द के एक कण मात्र से जगत् का समस्त सौन्दर्य, समस्त माधुर्य, समस्त लावण्य और समस्त स्निग्धता अपना नाम सार्थक कर रही है। इनकी बंसी डाल कर मैं तुम्हें अपनी

ओर खीचना चाहता हूँ, अपने में एक कर लेना चाहता हूँ। तुम मेरी विकलता को समझ नहीं पाते इसीलिये तो जगत् के इस लुभावने रूप, रस और स्पर्श में ही उलझ रहे हो। तुम मेरे बिना रह सकते हो, परन्तु मैं तुम्हारे बिना कैसे रहूँ ?

शर्म से मेरा सिर झुक गया। यह कितना 'अपना' है। मैं उसे छोड देता हूँ पर वह मुझे एक क्षण के लिये भी नही छोड़ता, एक घडी के लिये भी अपने से अलग नहीं रखना चाहता। मेरे गोपनीय अन्तस्तल के भीतर जो कुछ भी है—एक एक क्षण का सब कुछ इसे ज्ञात है। सारी बातें सदा देखता रहता है। फिर भी, मुझे पथ-भ्रष्ट देखते हुए भी, सदा अपनाने के लिए ही भुजाएँ फैलाये हुए हैं, छाती खोले हुए हैं। कितना प्रौढ, एकांगी और प्रगल्भ है इसका प्रेम जो बार-बार मेरा तिरस्कार और उपेक्षा पाकर भी मेरे प्यार की याचना करता रहता है। बार-बार मेरे द्वार पर प्रेम की भीख माँगने आता है और न पाकर भी निराश नहीं होता; मेरी सारी तुच्छता को प्रणय का 'मान' समझकर मेरी मनुहारें करता रहता है।

लज्जा और शर्म के मारे मेरा सिर झुका हुआ था। झुकी हुई पलकों की ओट मे एक बार तुम्हारी ओर झाँका भर था। गुलाब की कोमल पंखडी के समान, बाल रवि की अरुण लालिमा के समान दो प्यारे-प्यारे त्रिभुवन मोहन चरण। नखों से सुस्निग्ध ज्योत्स्ना की दिव्य धारा छूट रही थी। पीताम्बर

एडी को चूम रहा था। कमलदल में जैसे सुन्दर रेशे औ
पंक्तियाँ होती हैं, चरणों के अग्र भाग में, दो अंगुलियों के बी
वैसी ही कोमल रेखाएँ थीं। दृष्टि गडी सो गडी ही रही। लाज
शर्म छोड़कर कितनी देर तक मैं एक टक देखता रह गया—उ
प्राण के धन के समान—चरणों को,-सो याद नहीं है परन
जब होश में आया तो देखता क्या हूँ कि हृदय के कमल-को
मे वे ही दोनो चरण विराजमान हैं।

मन, इस बार, अनायास ही इस मायावी के जाल मे
फँसा। वसी लगाकर वह मेरे हृदय को फँसाना चाहता था
चरणों की ओर दृष्टि गयी नहीं कि लोक-परलोक की सा
कड़ियाँ पटापट टूट गयीं! एक विचित्र सी व्याकुलता अप
लिये मेरे हृदय मे भरकर वह छलिया जा छिपा, न जा
कहाँ। रह-रहकर प्राणों मे एक टीस-सी उठती, एक हूक-
होती। सब कुछ उसके बिना व्यर्थ और सूना लगने लग
मन में बार-बार यही आता है कि वह अकारण प्रेमी कित
उदार है जो मेरी भूलों और अपराधों पर प्यार का प
डालकर अपनी ओर खींचना चाहता है और अपने ही प्रे
का जादू चलाकर वह मेरा प्रिय बन रहा है। काश 'व
पूर्णतः अपना होता! कितने प्यारे थे वे सुन्दर चरण! कै
लुभावना होगा उसका मुखमंडल? क्यों न अच्छी तर
देख ही लिया। लज्जा की बात क्या थी जब वह स्वयं
घर आया था?

चैत्र की पूर्णिमा थी। मलय समीर के हिलोर से समस्त प्रकृति नव नव उल्लास मे इठला रही थी। एक अनिर्वचनीय आनन्द प्राण-प्राण मे किसी के साथ रस-मिलन के लिए प्रेरणा दे रहा था। नयी मंजरी, नये किसलय, नयी-नयी कुसुम-कलिकाएँ, उनकी शोभा और सुगन्धि हृदय में एक अपूर्व उल्लास की तरंगें उठा रही थीं। जिधर भी दृष्टि जाती रूप और छवि की हाट लगी हुई थी। प्रकृति अपने को सँभाल नहीं पाती थी। मैं बगीचे में, बाहर एक सीतलपाटी बिछाये सो रहा था। चम्पा-चमेली, मल्लिका-मालती, मौलश्री और हरसिंगार, गुलाब और जूही की भीनी गन्ध से सारा उपवन नन्दन कानन हो रहा था। पास ही रजनीगन्धा की गन्ध बरबस मन को बेसँभार कर रही थी। आकाश मे तारिकाएँ जगमगा रही थीं और चन्द्रमा का हृदय गुदगुदा रही थीं। मैं आधा सोया और आधा जाग रहा था। आँखें बाहर से बन्द और भीतर खुली हुई थीं। किसी 'अपने', सबसे 'अपने' के मिलन की लालसा प्राणों को विकल कर रही थी। हृदय में किसी अनदेखे का प्यार उमड़ रहा था।

धीरे-धीरे समग्र चेतना केन्द्रीभूत होकर हृदय-सरोवर में नहाने लगी। फिर देखता क्या हूँ हरि! यह तुम्हारी कैसी लीला है! बाहर का समस्त सौन्दर्य, समस्त शृङ्गार और शोभा, यह समस्त आकाश और यह अमृत-वर्षिणी चन्द्र-ज्योत्स्ना, ये असंख्य नक्षत्र, सभी लताएँ और वल्लरियाँ

अपनी मादक गन्ध को लिये हुए मेरे हृदय-देश में समा रही हैं, एक-एक कर नहीं, अनायास, अचानक सारा का सारा आलोक, सारी वनश्री मेरे हृदय-लोक मे छा गयी। हृदय के विस्तार की कोई कल्पना नहीं की जा सकती। समस्त चर-अचर बडी खुशी से उसमें समा सकते थे, केलि-क्रीड़ा कर सकते थे! फिर क्या सुनता हूँ--धीरे-धीरे कोई वंशी बजा रहा है हृदय-कुञ्ज के भीतर से। उसकी काया स्पष्ट नहीं दीख रही है परन्तु लताओ और वल्लरियों के बीच-बीच से कभी-कभी कुछ किरणें बाहर आ जाती हैं—बड़ी ही स्निग्ध, बडी ही मोहक। सारी प्रकृति में एक आनन्द-स्रोत बह उठा। लता-वल्लरियाँ पुलकित हो उठीं। प्राण-प्राण में, जीव-जीव के हृदय-देश में वही तान-तरंग उद्वेलित हो उठी। सभी के प्राण खिंच आये उस आकुल आह्वान के जादू-भरे स्वर मे। सभी जहाँ के तहाँ रह गये। कोई भी अपने वश में नहीं था। और वह रसिक-शेखर कुञ्ज में छिपा-छिपा नयी-नयी तानें छेडकर चर-अचर सभी को खेल मे बुला रहा था! सँपेरा, जैसे साँप को नचावे वही दशा थी। सभी नाच रहे थे उसके स्वर-संकेत पर और वह स्वयं सभी के साथ अपनी समस्त लीला को अनावृत कर, सारे पर्दे हटा कर नाचने लगा। उस समय लीला-विलास का उत्फुल्ल मधु मदिर का जो स्रोत उमडा उसमे सभी डूब गये! सभी के साथ वही एक! वही एक परिधि मे भी सब के साथ नाच रहा है, वही एक केन्द्र में स्थित सब को नचा रहा है—

अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधवो
माधव माधव चान्तरेणाङ्गना ।
इत्थमाकल्पिते मण्डले मध्यगः
सजगो वेणुना देवकीनन्दन ॥

जगत् के समग्र बन्धनों और दुःख-तापों से छुटा कर इस रस-रास में एक कर लेने की तुम्हारी यह दिव्य मंगल कामना ! सारा रास्ता तुम्हे ही तय करना पड़ता है फिर भी हम मानव अपने प्रेम का अभिमान नहीं छोडते ! बाहर से तुम्हीं आकर्पित करते हो, भीतर से तुम्हीं आकृष्ट होते हो और बाहर भीतर के बीच का भीना आवरण जब हट जाता है, उसे बलात्-हठपूर्वक जब तुम हटा देते हो तो फिर जो कुछ होने लगता है उनका वर्णन कोई कैसे करे ? यह रस-रास तो सृष्टि के आदि से प्रत्येक जीव के हृदय में छिड़ा हुआ है। जीव-जीव के हृदय-कुंज में बैठे हुए—छिपे हुए मुरली टेर रहे हो, बुला रहे हो, आवाहन कर रहे हो ! और हमारी तनिक-सी रुझान देख कर स्वयं प्रेम-परवश होकर हमारे हृदय का वज्रद्वार खोल देते हो और अपनी खुली हुई भुजाओं से हमे सदा के लिये अपने आलिंगन-पाश मे बाँधकर रस में सराबोर कर देते हो। मुझे क्या पता था कि तुम्हारा सारा परिश्रम, सारी चेष्टा, सारा सकेत मुझे मेरे हृदय मे ही बुलाने को था ? मेरे घर में ही तुम बंदी हो, मैं बाहर-बाहर कई जन्मो से भटक रहा था !

—०❀०—

हृदय की प्यास

सखि हे, पीरिति विषम वड़
यदि पराने पराने मिलाइते पारे
तवे से पीरिति दृढ़।

—चण्डीदास

हे सखि, प्रीति बड़ी विषम है। अगर प्राण से प्राण मिलाया जा सके तब प्रीति दृढ होती है।

सौ-सौ जन्मो से तुम्हें देखता आ रहा हूं परन्तु भर आँख देख न पाया। हृदय के मन्दिर मे तुम्हारी मनोहर मङ्गलमूर्ति विराज रही है परन्तु मै अभागा अपने ही हृदय का द्वार खोलकर मिलन-मन्दिर में प्रवेश न कर सका। तुम रूबरू सामने खड़े हो पर आँखें नहीं उठतीं। कैसे कहूँ, बड़ी विचित्र दशा है, देखे बिना रहा भी नहीं जाता और देखते बनता भी नहीं।

मेरी यही प्यास मेरे जन्म-जन्मान्तर की चिरसंगिनी है। जीवन और मृत्यु को चीरती हुई मेरी यह प्यारी मीठी प्यास अनादि काल से मेरे साथ चली आ रही है। इस प्यास के ही कारण मेरा यह जीवन और यह जगत् है। जिस प्रकार दूध मे घी और मधु मे मिठास है उसी प्रकार यह प्यास मेरे रोम-रोम मे, अणु-अणु मे, प्राण-प्राण मे व्याप्त है। मेरा रोम-रोम तुम्हारी माधुरी मे आकण्ठ डूबने के लिये व्याकुल है। साँसों में भी इसी प्यास की विह्वलता धड़क रही है। कहाँ जाऊँ? कैसे करूँ?

कैसी विचित्र पहेली है कि सब कुछ जानूँ पर अपने हृदय-वल्लभ को न जानूँ, सब कुछ देखूँ पर अपने प्राणनाथ को न देख सकूँ। कितना ढाढस बाँध कर आता हूँ परन्तु तुम्हारे ऊपर दृष्टि पड़ी नहीं कि निगोड़ी आँखें झुक जाती हैं और घूँघट सरक आता है—मन की मन मे ही रह जाती है। कई बार आँखों को सिखलाता हूँ, चिताता हूँ ··········परन्तु ये बेचारी स्वय विवश हैं--इनका क्या दोष? और अपने अपराध की सजा भी तो इन्हीं को अकेले भोगनी पडती है। सामने आ जाने पर तो ये हार खा जाती हैं और चूक जाती हैं—परन्तु बाद मे जो बेचैनी, जो छटपटी होती है उसे देखकर तो इनपर दया ही आयेगी।

इस हृदय का मर्म तुम भी खूब जानते हो। प्राणों की बेचैनी उकसाने में तुम्हें भी एक आनन्द आता है। साफ छिपते भी

नहीं, सामने आते भी नहीं। सामने रहते हुए भी पर्दानशीं हो और पर्दे के भीतर होते हुए भी सामने हो। देखते हुए भी तुम्हें नहीं देख पाता और नहीं देख पानेपर भी देख रहा हूँ। तुम न 'हाँ' हो न 'ना' हो। 'हाँ' भी हो और 'ना' भी हो। अपने आलिंगन के मधुपाश में बाँधकर भी मैं तुम्हें छू तक नहीं पाया—और मेरी भावना-सीमा से परे होकर भी तुम मेरे आलिंगन में बँधे हुए हो। अच्छी आँख-मिचौनी खेली!

इस लुक-छिप में तुम्हारा पता कोई भी न दे सका। कलियों से जाकर मैंने पूछा—प्रिये! तुम्हारी साधना बहुत कोमल और मधुमय है—तुम बता दोगी साँवरे का पता?

कली बोली—अभी मैं साधना की बात क्या जानूँ? अभी तो मैं स्वयं अपने हृदय के बंद कपाट को खोल न सकी। अभी तो मेरी आँखों पर की पलकें गिरी हुई हैं—मैं चाहती हुई भी इन पलकों को उठाकर अपने प्राणवल्लभ को देख न पायी! देखो, इन कठोर डंठलों से मैं प्यारे को देखने के लिये ही बाहर कढ़ आयी और संसार के सम्मुख मैंने अपना घूँघट खोला। पर वह निठुर न मिला, न मिला! हृदय की इस कसमसाहट में मैं तड़प उठती तो मेरी ये पखुड़ियाँ अपना रोम-रोम फैलाकर प्राणप्यारे की आशा में खिल उठती है। मेरी इस चिटख में कितनी विवशता होती है—कैसे कहूँ। फूल तो मेरी अपनी व्यथा का विकासमात्र है। मेरा यह लघु जीवन और इसकी यह अनन्त अतृप्त लालसा! अन्तिम काल तक भी मैं 'उन' का पथ देखा

मेरी यही प्यास मेरे जन्म-जन्मान्तर की चिरसंगिनी है। जीवन और मृत्यु को चीरती हुई मेरी यह प्यारी मीठी प्यास अनादि काल से मेरे साथ चली आ रही है। इस प्यास के ही कारण मेरा यह जीवन और यह जगत् है। जिस प्रकार दूध मे घी और मधु मे मिठास है उसी प्रकार यह प्यास मेरे रोम-रोम मे, अणु-अणु में, प्राण-प्राण में व्याप्त है। मेरा रोम-रोम तुम्हारी माधुरी मे आकण्ठ डूबने के लिये व्याकुल है। साँसों में भी इसी प्यास की विह्वलता धड़क रही है। कहाँ जाऊँ? कैसे करूँ?

कैसी विचित्र पहेली है कि सब कुछ जानूँ पर अपने हृदय-वल्लभ को न जानूँ, सब कुछ देखूँ पर अपने प्राणनाथ को न देख सकूँ। कितना ढाढस बाँध कर आता हूँ परन्तु तुम्हारे ऊपर दृष्टि पड़ी नहीं कि निगोड़ी आँखें झुक जाती हैं और घूँघट सरक आता है—मन की मन मे ही रह जाती है। कई बार आँखों को सिखलाता हूँ, चिताता हूँ·· ··········परन्तु ये बेचारी स्वयं विवश हैं--इनका क्या दोष? और अपने अपराध की सजा भी तो इन्हीं को अकेले भोगनी पड़ती है। सामने आ जाने पर तो ये हार खा जाती हैं और चूक जाती हैं—परन्तु बाद मे जो बेचैनी, जो छटपटी होती है उसे देखकर तो इनपर दया ही आयेगी।

इस हृदय का मर्म तुम भी खूब जानते हो। प्राणों की बेचैनी उकसाने में तुम्हें भी एक आनन्द आता है। साफ छिपते भी

नहीं, सामने आते भी नहीं। सामने रहते हुए भी पर्दानशीं हो और पर्दे के भीतर होते हुए भी सामने हो। देखते हुए भी तुम्हे नहीं देख पाता और नहीं देख पानेपर भी देख रहा हूँ। तुम न 'हाँ' हो न 'ना' हो। 'हाँ' भी हो और 'ना' भी हो। अपने आलिंगन के मधुपाश मे बाँधकर भी मैं तुम्हे छू तक नहीं पाया—और मेरी भावना-सीमा से परे होकर भी तुम मेरे आलिंगन मे बँधे हुए हो। अच्छी आँख-मिचौनी खेली !

इस लुक-छिप मे तुम्हारा पता कोई भी न दे सका। कलियों से जाकर मैंने पूछा—प्रिये ! तुम्हारी साधना बहुत कोमल और मधुमय है—तुम बता दोगी साँवरे का पता ?

कली बोली—अभी मैं साधना की बात क्या जानूँ? अभी तो मैं स्वयं अपने हृदय के बंद कपाट को खोल न सकी। अभी तो मेरी आँखों पर की पलकें गिरी हुई हैं—मै चाहती हुई भी इन पलकों को उठाकर अपने प्राणवल्लभ को देख न पायी ! देखो, इन कठोर डठलो से मैं प्यारे को देखने के लिये ही बाहर कढ आयी और संसार के सम्मुख मैंने अपना घूँघट खोला। पर वह निठुर न मिला, न मिला ! हृदय की इस कसमसाहट मे मैं तड़प उठती तो मेरी ये पखुड़ियाँ अपना रोम-रोम फैलाकर प्राणप्यारे की आशा मे खिल उठती हैं। मेरी उस चिटख मे कितनी विवशता होती है—कैसे कहूँ। फूल तो मेरी अपनी व्यथा का विकासमात्र है। मेरा यह लघु जीवन और इसकी यह अनन्त अतृप्त लालसा ! अन्तिम काल तक भी मैं 'उन' का पथ देखा

करती हूँ और जब हवा के कठोर झोंके में मेरी एक-एक पंखुड़ी पृथ्वी पर गिरने लगती है तो मैं हृदय का मधु-कोष और सुगन्ध की धरोहर पवन को सौंप कर अन्तिम समय कहती हूँ–'लो मेरा यह सर्वस्व—जब 'वे' मिलें तो उनके पादपद्मो में चढ़ा देना।'

मैंने वायु से पूछा—तुम्हारी साधना परम व्यापक और अनन्त है। तुम संसार के एक छोर से दूसरे छोरतक चक्कर काटती हो और अपनी साधना मे आकाश-पाताल एक किये हुई हो—तुम बता सकोगी मेरे प्राणवल्लभ का पता ?

वायु की विवशता बोल उठी–देखो, तुम्हारी ही भाँति सारी दुनिया मेरे सम्बन्ध मे भ्रम मे है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मैंने प्यारे की खोज में संसार का कोना-कोना छान डाला,पर ···। समुद्र के कोमल-कोमल ठंढे-ठढे कण लेकर, पुष्पों से गन्ध लेकर मैं विकल रात-दिन खोज रही हूँ–और जब उषा अपना रोरीभरा थाल लेकर आरती करने के लिये लाल रेशमी चूनर पहनकर तथा माँग में सिन्दूर भर कर आकाश से धरातल पर उतरने लगती है उस समय मैं उसके चरणों में सिहर-सिहर कर धीरे-धीरे उन्मद मन्थर गति से बहती हूँ और उसके आँचल को हिला-डुला देती हूँ–इस आशा में कि समर्पण के इस स्वर्गीय समारोह में मैं भी अपने प्राणों की भेंट अपने हृदयेश्वर को चढा सकूँ। परन्तु उषा अपने नाथ को आते देख सकुची-ठिठकी अदृश्य का घूँघट काढ लेती है और पर्दे के भीतर चली जाती है—मैं पगली अपनी धुन मे फिर आकाश-पाताल

छानती फिरती हूँ। मेरा सिहर-सिहर बहना देखकर संसार ठगा जाता है और यह अनुमान कर लेता है कि यह मिलन की ही सिहरन है और उसी मधुर मंगल-मिलन की ही साँय-साँय है परन्तु उसे क्या पता कि मेरे हृदय के भीतर कैसी भट्टी धधक रही है जो मुझे एक पल के लिये भी चैन नहीं लेने देती।

तो फिर उषा से चल पूछूँ! प्रभात का समय था—मैं समुद्र के तट पर खड़ा था। देखा मैंने आरती का थाल सजाये, लाल कुंकुम की बेंदी दिये, लाल रेशमी साड़ी पहने, अधरों में मधु और आँखों में उन्मादभरी उषा धीरे-धीरे अरुण के आलिंगन के लिये आगे बढ़ी। उसने अपना घूँघट धीरे से सरकाया और आँखों को ऊपर उठा ही रही थी ··कि मैंने कहा—प्रिये! मुझे भी इस समर्पण-समारोह में सम्मिलित कर लो! आज मैं भी अपना हृदय अपने 'देवता' के चरणों में चढ़ा दूँ!

उषा के कोमल अधरों पर मुसकुराहट खिल उठी! कुछ सकुचायी-सी वह बोली—'मेरी इस अतृप्त लालसा को तुम देख पाते! संसार मेरे रूप-माधुर्य की स्निग्धता तथा आँखों के उन्मद अनुराग, अधरों की मधु मुसकान को देखकर यह समझ लेता है कि मेरा यह स्निग्ध कोमल समर्पण अवश्य सच्चा होगा और मैं अवश्य अपने 'प्राण' को देख सकी होगी—परन्तु मेरी पूजा की थाली ज्यों-की-त्यों धरी रह जाती है—मैं उसमें

से कुंकुम उठाकर ज्योंही हरि के मस्तक पर लगा देना चाहती हूँ कि•••!! मेरा यह रूपसम्भार सब व्यर्थ गया! मैं अभागिन अपने जीवन के सर्वस्व को सामने होते हुए भी देख नहीं पाती! मेरे रूप मे जो कुछ तुम देख रहे हो वह है 'उस' से पहली भेंट की स्मृति! आँखो मे राग और अधरों में मुसकान बनाये मै अनन्त कालतक इसी वधूरूप में 'उसे' खोजती रहूँगी—यही मेरा व्रत है। हृदय की बेचैनी जो शान्ति नहीं लेने देगी! मेरे भीतर की ज्वाला और उत्कट प्यास को तुम जान पाते !!

समुद्र मानो समाधि मे मग्न था। मैने सोचा—इस अनन्त सागर के अथाह हृदय में हरि की झाँकी अवश्य उतरी होगी। इसने अपना विशाल हृदय अनावृत करके फैला दिया है—इसमे प्रभु की रूप-आभा अवश्य छिटकी होगी। रात-दिन असंख्य नदियाँ आकर अपना सर्वस्व इसके चरणों में उँडेल कर इसके तलवों को गुदगुदाती हैं परन्तु यह निःस्पृह साधक अपने देवता के ध्यान मे ऐसा निमग्न है कि इसे पता ही नही कि कहाँ क्या हो रहा है। किसी प्रकार की भी ऐहिक प्राप्ति में यह अपने हृदय को आन्दोलित नहीं होने देता। इसका ध्यान कितना अटल और अखण्ड है। इसकी साधना कितनी अगाध और अगम्य है। अपने प्राणनाथ की रूप-माधुरी पीने में यह इतना व्यस्त है कि अपनी साधना की अनन्यता में संसार की ओर से एकदम आँखें मूँद ली हैं।

मैंने उसकी समाधि भंग करते हुए पूछा—मुझे भी 'प्राण-'प्यारे' के ध्यान में डूबना सिखला दोगे ?

समुद्र के विषादमय वचन थे—'कैसी समाधि और कैसा डूबना ? मैंने तो 'उसे' ही देखने के लिए अपना हृदय खोलकर 'उस'के चरणों में बिछा दिया है। प्रात.काल अरुणांशुकवसना उषा आती है, आरती का थाल सजाये, रूप-लावण्य से भरी हुई—और मेरे हृदय पर एक क्षण के लिये अपनी श्री छिटका कर चल देती है। मैं उससे पूछता ही रह जाता हूँ और पता नहीं वह कहाँ सकुचाती हुई छिप जाती है। रजनी तारों का गजरा पहने हुए प्राणनाथ की खोज मे—अभिसार करती है—और मेरे हृदय पर से होती हुई चली जाती है। मैं उससे प्राणनाथ के देश का पता पूछता ही रह जाता हूँ पर कौन किसकी सुनता है ? सूर्य उगता है, मेरे हृदय पर तपता है और सन्ध्या होते समय जब अस्ताचल को जाने लगता है तो मैं पूछता हूँ—'मुझे भी प्रभु के चरण-प्रान्त मे लिये चलो।' सूर्य जाते-जाते कह जाता है 'मेरी खोज भी जारी है।' मैं गंगा-यमुना से पूछता हूँ कि जिस देश से आयी हो—जहाँ से निकली हो उसका कुछ हाल बतलाओ। वे सकुचायी हुई आकर मेरी गोद में लय हो जाती हैं और कुछ पता नहीं बतलातीं।

और मैं अपनी व्यथा ? अपनी व्यथा मैं क्या कहूँ और कैसे कहूँ ? मेरे भीतर का बड़वानल—प्रभु को पाने की मेरी

हृदय के वास्तविक सौन्दर्य को नष्ट कर देती हैं और हृदय पर उतरी हुई तुम्हारी तस्वीर को बिगाड देती हैं। मैंने कई बार साहस बाँधा, कई बार पूरी शक्ति लगा कर मन की लहरों को बाँधा परन्तु अचानक जोरों की बाढ उमड जाती है, विश्व का कोलाहल प्रतिध्वनित हो उठता है-मन तो स्वतः डवाँडोल है ही, हृदय की पवित्रता पर भी कालिख पोत देता है। लाचार होकर अपनी हार अपनी आँखों देखनी पडती है ! यह है नित्य का आन्तरिक द्वन्द्व। कैसे पहुँचूँ तुम्हारे चरणों की छाया में ?

× × ×

फिर भी ओ उदार ! तुम्हारे पथ में चलने का प्रलोभन रोका नहीं जाता। त्रुटियों, अपराधों और पापो का यह दुर्बल पुतला बलात् तुम्हारी दिव्य रूपराशि की ओर आकृष्ट तो हो ही गया है और साधन-हीन होते हुए भी तुम्हें पाने की, तुम्हें अपनाने की अभिलाषा हृदय मे प्रतिपल बढ़ती जाती है ! हृदय की इस प्यास को मिटाने के लिए विश्व की विविध विभूतियाँ आयीं, संसार के अनेक प्रलोभन आये-परन्तु जी की कचट न मिटी, हृदय की ज्वाला शान्त न हुई ! अब तो कुछ ऐसा हो गया है कि इस उफान में जीवन का सत्व समा गया है। संसार के इस वाह्य-फेनिल रूप पर आँखें टिकती ही नहीं-तुम्हें ही देखने के लिये व्याकुल आँखें तुम्हारी प्यास में ही तड़फड़ा रही हैं।

× × ×

ये सब कुछ भुलावे मे डालने के लिये हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो हमें पथ-भ्रष्ट करने के लिये ही प्रकृति ने इतने लुभावने रूप धारण किये हैं—ये नाना प्रकार के इन्द्रजाल रच डाले हैं। प्रात काल उषा आती है लाल रेशमी साड़ी पहनकर, जिसकी किनारी पर सोने की झिलमिल झिलमिल आभा छिटकी रहती है, वह आकर्षण और मधु का प्याला हाथ मे लिये आती है, उसके अधरो पर अरुणिमा का साम्राज्य है, आँखों मे वेहोश कर देनेवाला जादू !! अपने समस्त वैभव और आकर्षण को विखेर कर जब गङ्गा की लहरों पर खेलने लगती है—जब समस्त विश्व उसकी प्रेम-मदिरा मे वेसुध होने लगता है, उस समय मेरी ये ललचायी आँखें भी प्रेम के इस विराट् समारोह को देखकर, सौन्दर्य के इस स्वर्गीय लीला-विलास को देखकर कुछ अलसायी-सी, कुछ जगी-सी ऊपर उठती हैं और हृदय से सहज ही एक प्रश्न उठता है—सखि ! यह शृंगार, यह रूप-सम्भार किसके लिये ? किसकी खोज मे वावरी-सी आकाश-पाताल एक किये जा रही हो ? सारे संसार मे अपने प्रेम की खुमारी विखेरकर कहाँ किसको खोज में अनन्तकाल से पागल हो ? न पाकर लजा कर गुपचुप भाग जाती हो—फिर खोज की खोज ?

× × ×

चन्द्रमा और तारो का दीप जला कर नीली चादर ओढ़े रजनी वन-पर्वत-समुद्र सर्वत्र तुम्हारो खोज में है। सूर्य की प्रखर

हाँ, जीवन की गंगा की गति न रुके, न रुके, न रुके। पहाड़ो को काट कर, मरु-भूमि को चीर कर, वनस्थली और तीर्थ-स्थानों में बिना विरमे हुए यह बहती चले। तीर पर की वस्तुएँ धारा को कैसे लुभा भी सकती हैं? तीर तीर ही है, धारा धारा ही। तट की शोभा भी तो धारा के कारण है। बालू कुरेद कर जल देने से ही फल्गू फल्गू बनी हुई है, नहीं तो वह बस स्मृति की वस्तु रह जाती! गगा भी चिता की राख और पूजा के पुष्प-दीप से अन्यमनस्क होकर, निर्विकार रूप में बहती चली जाती है। वह लेकर क्या करेगी? उसका तो व्रत ही देना, बस देना और फिर भी देना ही है। यमुना और सरयू को भी वह साथ लेकर उलीचने के लिये ही आगे बढती है—अपने को सम्पूर्ण वायु-मण्डल, समस्त हित-नात के साथ समर्पित करने के लिये ही आगे बढ़ती है! वह बढ़ती है—और जब—आह! वह भी एक दृश्य ही है—जब गंगा शत-शत धाराओं में विह्वल होकर पागल की भाँति समुद्र की ओर टूटती है! समर्पण की तीव्र ज्वाला जो अपने भीतर हिमालय से छिपाये आ रहा थी—फूट पड़ी—कोटि-कोटि धाराओं में हृदय से फूट बही—और वहाँ सागर के गर्भ में समा कर गंगा अपना नाम और रूप खो देती है, समर्पित कर देती है! उसके बाद कहाँ है गंगा और कहाँ है सागर?

× × ×

कहाँ जाऊँ, कैसे खोजूँ ? किन-किन रूपों मे, किस किस वेश मे, कहाँ-कहाँ खोजूँ ! खोज का अभिमान भी प्राणों के संस्कार के साथ लिपटा चला आता है। 'जिन खोजा तिन पाइयाँ' तो कोरी कथकड़ी है। कहाँ की खोज, और किसे पाना ? सब मे रमता हुआ, सर्वत्र ओत-प्रोत भला खोज का विषय है ? यह खोज की धुन भी तो अहङ्कार का ही विकार है। आज मैंने इस खोज के अभिमान को भी दूरकर, निरावरण होकर, सर्वशून्य होकर आँखे बन्द कर ली हैं—आज यहाँ और अभी, बिना खोज के और बिना एक पल के विलम्ब के तुम्हें आलिङ्गन के पाश में बाँध लेना है। आज समुद्र ही स्वयं सरिता को अपनी अनन्तता मे मिलाने के लिये खोज का लम्बा रेतीला पथ पार कर आएगा—आज स्वयं तुम्हे ही अपने पैरों चल कर मेरी भुज-लताओं मे बँध जाना पड़ेगा—बस, इसी हठ में मैंने खोजना छोड़ कर आँखें बन्द कर ली हैं!

× × ×

पर ये हैं शब्द-ही-शब्द। मैं इन शब्दो मे वैसे ही उलझ गया हूँ जैसे मकडी अपने बुने हुए जाल मे। स्वप्न के बाद स्वप्न। तार टूटता ही नहीं—लहर रुकती ही नहीं। इच्छाओं की कहीं 'इति' भी है ? एक पूरी हुई नहीं कि दूसरी शुरू हो जाती है और तीसरी की धुँधली छाया दीखने लगती है। इच्छाओं के इस ड्योढ़े-दुहरे प्रवाह में जीवन का वास्तविक ध्येय पता नहीं कहाँ लुप्त-सा हो गया है। भूले-भटके जो कभी तुम्हारी

श्रीमद्भगवद्गीता के दसवें अध्याय में भगवान् ने जब जगत् के अणु-अणु मे बिखरी हुई अपनी विभूति का वर्णन किया, तो अर्जुन को आश्चर्य हुआ कि भला रात-दिन हमारे साथ खेलने वाला यह हमारा सखा कृष्ण इस प्रकार चराचर में ओतप्रोत कैसे हो सकता है ? उससे नहीं रहा गया और उसने भगवान् के विश्वरूप को देखने की लालसा प्रकट की। भगवान् ने अब अपना विराट् रूप दिखलाया तो अर्जुन कॉपने लगा ! उसने देखा कि भगवान् के दॉतों के दाढो के बीच अनेक ब्रह्माण्ड चूर-चूर हो रहे हैं। जिस प्रकार सभी नदियॉ समुद्र में लय होती हैं उसी प्रकार सारा संसार ईश्वर मे लय हो रहा है। अर्जुन की ऑखे खुली और वह सोचने लगा—हाय ! मैंने हॅसी-खेल मे, उठते-उठते, भोजन करते और सोते समय इस चराचर के स्वामी को कृष्ण, यादव और सखा कह कर अपमानित किया है। कितना बडा अपराध हुआ हाय, कहॉ जाऊॅ और क्या करूॅ ? ग्लानि से भरे शब्दो मे कॉपते हुए अर्जुन ने कहा—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेद
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥

हे प्रभो ! मैंने प्रमाद और प्रणय के वश में आकर, तुम्हारी इस अनन्त महिमा को न समझते हुए तुम्हे अपना स्नेही मित्र मानकर कृष्ण, यादव, सखा नाम से सम्बोधित किया है ! अब

अर्जुन से क्षमा माँगते भी नहीं बनती ! कहाँ जायँ, क्या करें ! हाथ जोड़कर करुणा-गद्गद शब्दों में, अवरुद्ध-कण्ठ, सजल-नयन, काँपती हुई वाणी में अर्जुन कहते हैं--

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रिय. प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥

जिस प्रकार पिता पुत्र के अपराध को, मित्र मित्र के अपराध को, प्रेमी प्रिया के अपराध को क्षमा कर देता है, उसी प्रकार हे प्रभो ! तुम भी मेरे अपराधों को क्षमा कर दो, मुझे सह लो। अर्जुन ने भगवान् को अपना पिता कहा परन्तु उसे सन्तोष नहीं हुआ, मित्र कहा फिर भी तृप्ति नहीं हुई; अन्त में आकर अपना 'प्रेमी' बनाया।

भक्त अपने को भगवान् के चरणों में सर्वभावेन समर्पण करना चाहता है। उसे एक क्षण का भी वियोग असह्य हो उठता है। वह देखता है, प्रभु इस संसार के समस्त जीवों में व्याप्त हैं, वह अपने हृदय के अन्तस्तल में भी अपने जीवन-धन की मञ्जुल मूर्ति की झाँकी पाता है—फिर भी द्वैत का अन्तर उसे खलता रहता है—

पिउ हिरदय महँ भेंट न होई। को रे मिलाव, कहौं केहि रोई ॥

हृदय के वृन्दावन में भावना की यमुना-तट पर साधना के कुञ्जों के भीतर से वंशी की एक टेर आती है, हृदय विह्वल हो

उठता है, प्राण व्याकुल हो उठते हैं, आँखें तृषित-लालायित अपने 'सर्वस्व' की खोज मे विकल हो उठती हैं--वंशी बजती रहती है, वहाँ का आकर्षण और जादू !!

हृदय अपने को निछावर करने के लिये उद्वेलित हो उठता है। अन्तस्तल की लहरों की हलचल आँखों की खिड़की से देख सकते हैं--जब रिमझिम-रिमझिम फुहियाँ बरसने लगती हैं, आहों के कुञ्ज मे प्रणय की मृगछौनी उस बेपीर गायक की टेर पर मृत्यु की गोद मे छलाँग मारने के लिये तडप उठती है। रोम-रोम से 'प्राणनाथ, प्राणनाथ' की झंकार होने लगती है, चराचर के अणु-अणु में श्रीकृष्ण की माधुरी छलकने लगती है, सर्वत्र उस मधुमय लोक मे प्रवेशकर, रास में सम्मिलित होने का आमन्त्रण-गीत सुनायी पडने लगता है--उस समय हृदय की क्या दशा होती है, जी की कैसी विकलता होती है--कैसे कहा जाय ?

The desire of the moth for the star
Of the night for the morrow,
The devotion to something afar
From the sphere of our sorrow

बिन्दु समुद्र बनने के लिये व्याकुल है, परमाणु अणु मे लीन होते जा रहे हैं--नदियाँ अपने प्राणवल्लभ में मिलकर अपना नाम और रूप गँवाकर, उसी में विलीन होकर, अपने जी की जलन मिटाती हैं। हम भी अपने प्राणनाथ मे लय होने के लिए प्रतिपल, प्रतिक्षण तरसते रहते हैं, तडपते रहते हैं। हमारी

यह तड़प हमारे हृदय की सच्ची लगन है, एकमात्र ज्वाला है। हम प्रभु को अपना पिता मानकर चरणों में सिर नवाते हैं परन्तु हृदय की भूख-प्यास ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। हृदय की ज्वाला और भी अधिक लहकती ही जाती है। 'पितेव पुत्रस्य' मात्र से हमारा जी नहीं भरता। पिता पुत्र के अपराध को कहाँ क्षमा करता है? आतुर होकर हम अपने स्वामी को सखा मान कर हृदय से लगा लेते हैं परन्तु समानता में समर्पण कहाँ? विरह की ज्वाला हमें चैन नहीं लेने देती और हम अपनी सारी दुर्बलता, सारे पाप एवं अपराधों को लिये हुए अपने 'प्रियतम' के चरणों में गिरते हैं—'प्रिय' प्रियायार्हसि देव सोढुम्।'

प्रेमी अपनी प्रिया के अपराधों को कहाँ याद रखता है? प्रेम की ज्वाला में अपराध और त्रुटियाँ स्वयं भस्म हो जाती हैं। हमारे हृदय का कोना-कोना प्रभु के प्रेम से आलोकमय, मधुमय हो जाता है। समस्त चर आचर में उसी का, बस केवल उसी एक का जलवा, उसी एक की छवि। जहाँ देखता हूँ सनम रूबरू है। 'मैं' 'तू' में लय हो गया है। प्रेमी प्रेमिका का द्वैत केवल आनन्दोल्लास का प्रवर्द्धक द्वैत है—प्रेम की तरंगों को उभाड़नेवाला द्वैत है—वस्तुत वहाँ द्वैत की कोई गुञ्जाइश ही नहीं। पत्नी पति में अपने को खो देती है, गँवा देती है। वैसा किये बिना उसे कल नहीं, चैन नहीं, शान्ति नहीं।

ठीक यही स्थिति भक्त-हृदय की भी है। वह अपने स्वामी, अपने 'प्राण' से एक क्षण का भी वियोग सह नहीं सकता। इस

संतों की प्रेमानुभूति

एक बाउल संत ने गाया है—

ज्ञानेर अगम्य तुमि प्रेम ते भिखारि।
द्वारे-द्वारे माग प्रेम नयने ते वारि॥
कोथाय तोमार छत्र-दण्ड कोथाय सिंहासन।
देखि काङ्गालेर सभार माझे पेतेछ आसन॥
कोथाय तोमार छत्र-दण्ड धुलाते लुटाय।
पातकीर चरणरेणु उडे पडे जाय॥
पातकीर चरणरेणु शोभे तोमार गाय।

तुम ज्ञान के अगम्य हो, पर प्रेम के भिखारी हो। दर दर तुम सजल नयन होकर प्रेम की भीख माँगते फिरते हो। कहाँ है तुम्हारा छत्र-दण्ड और कहाँ है तुम्हारा सिंहासन? देखता हूँ तुमने कंगालों की सभा में आसन बिछाया है। तुम्हारा छत्र-दण्ड किस धूल में लोट

रहा है। पातकी के चरणों की धूल तुम्हारे शरीर पर पड़ रही है, उसी से तुम्हारा शरीर शोभित है।

उधर ब्रह्म की 'एकोऽहं, बहुस्याम्' की अमूर्त वासना स्फुरित हुई, इधर कोटि-कोटि विश्व का रङ्गमञ्च नाच उठा। अभिनय प्रारम्भ हुआ। इस विराट् अभिनय की कोई 'इति' नहीं, कोई ओर-छोर नहीं। पात्रों का एक-पर-एक तांता बँधा हुआ है, एक जाता है, दूसरा प्रकट होता है। ऐसे ही अनन्त काल तक चलता रहेगा। सृष्टि और प्रलय पटाक्षेपमात्र हैं—दृश्य-परिवर्तन-मात्र हैं। यह अभिनय तो सृष्टि और प्रलय को पार करता हुआ चलता चलेगा।

इस अभिनय में हम सभी पात्र हैं, सभी अपने-ही-अपने पार्ट में बेसुध हैं, दूसरे की ओर देखने का अवकाश ही नहीं है। हाँ, प्रभुकी यह भी एक लीला ही समझिये कि इन व्यक्तिगत स्वतन्त्र अभिनेताओं के क्रिया-कलाप में भी एक शृङ्खला है, एक प्रवाह मिलता है, एक संगति है, अन्यथा सभी के पार्ट अधूरे अथच अर्थहीन हैं। इन अस्पष्ट क्रियाओं के भीतर से सूत्रधार अपना लीला-कुतूहल पूरा

हम सभी इस अभिनय में इस
जाते हैं कि इसका कोई सञ्चालक या
विचित्रता ... की
पर नाच
दूसरे की

आँखें खोलकर एक पल के लिये भी तो इस ललचीले स्वप्न के 'उस पार' देखें। कभी ऐसा साहस नहीं होता कि स्वप्नों के इस जाल को छिन्न-भिन्न कर दें।

स्वप्न की असत्यता तथा सपने में पायी हुई सुख-सम्पत्ति की असारता को सोता हुआ व्यक्ति क्या और कैसे समझे? ठीक ऐसे ही हम सभी इस जाग्रत स्वप्न के शिकार हैं। जाग जाना तो कठिन भी है न! परन्तु जो जाग जायगा उसके सामने यह बतलाने की आवश्यकता ही न होगी कि जो कुछ तुमने देखा-सुना अथवा भोगा था वे सब व्यर्थ थे—कहीं उसका पता नहीं है। अपने को होश मे ला देना ही स्वप्न और स्वप्न की माया को व्यर्थता तथा असारता समझ लेना है। नींद टूटती है—वह बेचारा सोचने लगता है—अरे मैं कहाँ-का-कहाँ लुभाया फिरा, मारा-मारा फिरा। मैं तो न उस महल का राजा ही हूँ न उस परी का प्रेमी ही। मेरी सत्ता तो सर्वथा भिन्न है। ठीक इसी प्रकार इस जीवनरूपी स्वप्न में जगत् के वैभव व्यर्थ हैं, असार हैं—यह सब कुछ बतलाने की आवश्यकता उस व्यक्ति के लिये नहीं है जो जाग चुका है और जो अपने वास्तविक सत्ता को समझता है।

इस जाग्रत स्वप्न को तोडकर, आँखें खोलकर चलनेवाले संतों ने हमे बार-बार चेताया है—

रहना नहिं देस बिराना है।
यह ससार कागद की पुडिया बूंद पडे घुल जाना है॥

और बार-बार आत्मा को उद्बोधित कर इस देश का संकेत किया है जहाँ आनन्द ही आनन्द है—

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।
हंसा छाड़ि चलो वा देश जहाँ के गये कोई ना फिरै ॥

इसी सम्बन्ध मे एक 'निर्गुन' भी है—

चलु मन जहाँ बसे प्रीतम हो, बैरागी गोरे यार।
लगली बजरिया अगमपुर हो, हीरा रतन बिकाय।
चतुर चतुर सौदा कइले हो, मूरख पछिताय ॥
साँप छोड़ैलै सँपकेंचुल हो, गंगा छोड़ैली अरार।
हंसा छोड़ैलै आपन गिरिहि हो, जहाँ कोई न हमार ॥ चलु० ॥

रे मन! यहाँ क्या रखा हुआ है जो चिपटे हुए हो, चलो उस देश को चलें जहाँ से फिर इस ऐन्द्रजालिक दुनिया में लौटना नहीं होता। अगमपुर में हीरे-रत्नों की हाट लगी हुई है जो चतुर हैं वे तो सोच समझकर सौदा कर लेते हैं, जो मूर्ख हैं वे हाथ मलते रह जाते हैं। जिस प्रकार साँप अपनी केंचुल छोड़ देता है और गंगा अपनी अरार छोड़ देती है, ठीक उसी प्रकार 'हंस' भी इस गृह को छोड़कर चल देता है—यहाँ अपना है ही कौन? रे हंस! उड़ो चलें उस देश को जहाँ 'प्रीतम' है।

प्रायः सभी संतों ने पर्दा उठा कर सत्य सौन्दर्य को देखा था, इसीको श्रुति कहती है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नापावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ (ईश० ५)

सत्य के घडे पर सोने का ढक्कन पड़ा हुआ है। हे सूर्यदेव! इस ढक्कन को हटा दो जिससे सत्य धर्म को हम देख लें। और देखने के बाद—

'शरवत्तन्मयो भवेत्'

जिस प्रकार बाण अपने लक्ष्य मे लय हो जाता है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्म मे लय हो जायँ।

इस जागृत स्वप्न के रहस्य को वही बतला सकता है जो स्वय जाग चुका हो। इन्ही जगे हुए व्यक्तियो मे रामानन्द, कबीर, तुलसी, सूर, मीरा, रैदास, पीपा, दादू आदि हैं। इन्होंने जीवन के 'उस पार' को देखा था। इन्होंने संसार की असत्यता का तीव्र अनुभव किया था, तथा अपने इस सान्त जीवन मे अनन्त आनन्द की स्थापना की थी। हम इनको भक्त या ज्ञानी न कह कर 'संत' कहना ठीक समझते हैं। अब देखना यह है कि इन संतों ने संसार की असारता तथा जीवन की असत्यता का प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए अपने हृदय मे प्रभु के प्रति प्रेम की कैसी अनुभूति प्राप्त की थी।

यह भूल न जाना होगा कि साधना का प्राण है अनुभूति। अनुभूति संवेदन-मूलक होती है। हृदय नारी है, मस्तिष्क पुरुष। मस्तिष्क का धर्म है विचार और वह है पुरुष। हृदय का धर्म है संवेदन और वह है नारी। इन दोनो के पूर्ण संयोग से ही साधना का पथ सरल हो सकता है। हमे ज्ञान की आग मे अपने कर्मों को पवित्र कर भक्ति के हाथ निवेदित कर देना है। भक्ति

ही अपने को श्रीकृष्णार्पण कर सकती है। भक्ति ही हरि के मन्दिर में प्रवेश कर उनका पूर्ण संयोग प्राप्त करा सकती है। ज्ञान कर्मों में प्रकाश भर देगा, भक्ति उसमें ताप और जीवन देकर भगवान् के चरणों मे चढ़ा आयगी। ज्ञान विश्व से वैराग्य बढ़ाता जायगा, भक्ति भगवान् के चरणो मे सम्बन्ध दृढ करती जायगी। न कोई कोरा ज्ञानी होता है न कोई कोरा भक्त। भक्त में ज्ञानी और ज्ञानी में भक्त छिपा रहता है।

द्वैत और अद्वैत, ज्ञान और भक्ति के बाह्य प्रतिबन्ध को हटा कर यदि हम संतो की जीवन-धारा मे प्रवेश करें तो उनके हृदय में एक दिव्य प्रेम की अजस्र धारा प्रवाहित होते पायेंगे। सभी के हृदय मे 'साजन के देश' मे प्रवेश करने की और साईं की सेज पर पौढ़ने की तीव्र उत्कण्ठा रही है। सभी ने इस शरीर के भीतर अनन्त छवि को घूँघट उठा कर भर आँख देखने की चेष्टा की है।

घूँघट का पट खोल रे, तोको पीव मिलैंगे।
सुन्न महल में दियना बारि लै, आसन सों मत डोल रे।
जाग जुगुत सो रंगमहल में पिय पायो अनमोल रे॥

घूँघट का पट खोल देने पर 'प्रीतम' तो मिल ही गये, अब तो प्रतिपल उनके मधुर दर्शन मे मन माता-माता फिरता है। वह एक पल की झाँकी आँखों का चिरन्तन व्यापार बन गयी—अब तो सदा सर्वत्र 'वही वह' दीखता है। इस सहज समाधि का रूप भी कैसा लुभावना है—

सब घट मेरा साइयाँ सूनी सेज न कोय।
भाग उसी का हे सखी। जा घट परगट होय ।।

इसी प्रेमानुभूति को एक अंग्रेज भक्तिन के शब्दों में सुनिये–

It was a sweetness which my Soul was lost in, it seemed to be all that my feeble frame could sustain . There was but little difference whether I was asleep or awake, but if there was any difference, the sweetness was greatest while I was asleep.

'इस माधुर्य में मेरी आत्मा डूब जाती थी। प्रेम के इस आवेश में हमारा सारा शरीर बेसँभार हो जाता था। मैं जानती न थी कि मैं जाग रही हूँ या सो रही हूँ। हाँ, जब मैं सोती रहती थी, उस समय प्रेम की यह बढ़िया और भी अधिक उमड पड़ती थी।'

आधी रात प्रभु दरसण दीनो प्रेम-नदी के तीरा।

—ये वचन हैं तो मीरा के परन्तु प्रेम की इस दिव्य अनुभूति को एक अमेरिकन भक्त महिला के मुख से सुनिये—

It was my practice to arise at midnight for purposes of devotion. It seemed to me that God came to me at the precise time and awoke me from sleep in order that I might enjoy Him. When I was out of healh or greatly fatigued, He did not awake me, but at such times I felt, even in my sleep, a singular possession of God. He

loved me so much that He seemed to pervade my being, at a time when I could be only imperfectly conscious of His presence. My sleep is some times broken—a sort of half sleep; but my soul seems to be awake enough to know God when it is hardly capable of knowing anything else.

'आधी रात जाग कर प्रभु की प्रार्थना करने की मेरी आदत थी। मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि प्रभुजो ठीक समय पर आकर मुझे जगा देते थे जिससे मैं उनके प्रेम का अमृत पी सकूँ! जब मैं अस्वस्थ रहती या थकी होती तो वे जगाते तो नहीं परन्तु सोये-सोये ऐसा प्रतीत होता कि मैं प्रभु की गोद में हूँ। मुझे जब उनके आने का भान भी न होता तो वे आकर मेरी आत्मा पर अधिकार कर लेते थे। रात में मेरी नींद उचट जाती है, कभी-कभी आधी सोई आधी जागी रहती हूँ, फिर भी उनकी उपस्थिति का भान बराबर बना ही रहता है।'

सर्वत्र, सभी देश और सभी समय के संतों ने प्रभु के परम प्रेम का रसास्वादन एक अपूर्व ढंग से ही किया है जिसे हम भक्ति के शब्दों में 'माधुर्य-भाव' कह सकते हैं। इस पार्थिव जगत् में पति-पत्नी के बीच अथवा प्रेमी-प्रेमिका के बीच जैसा प्रगाढ़ प्रेम होता है वैसा ही प्रगाढ़ प्रेम जब जीव का परमात्मा के प्रति होता है तो उसे माधुर्य भाव कहते हैं। माधुर्य में भी 'परकीया' का प्रेम श्रेष्ठ है।

प्रार्थना का प्रवाह

आछे तोरइ भितर अतल सागर
तार पाइलि ना मरम
सेथा नाइ कूल किनारा शास्त्र धारा
नियम कि करम ॥
—बाउल 'जगा'

अरे! तेरे ही भीतर अतल सागर है। तूने उसका रहस्य नहीं समझा। वहाँ न तो कूल किनारा है, न शास्त्र धारा है, न नियम है, न कर्म है।

सन्ध्या का समय था। भगवान् सूर्यदेव अपनी स्निग्ध अरुण किरणें वसुन्धरा पर प्रीति के रूप मे बिखेर रहे थे। काशी में दशाश्वमेधघाट के नीचे एक नाव पर विश्व-विश्रुत

तपस्वी संत पं० भवानीशङ्करजी के साथ मैं जा रहा था। काशी सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल के अन्यतम अध्यापक परेश बाबू डाँड़ चला रहे थे। नाव दूर निकल चुकी थी। बीचो-बीच गंगाजी में हमलोग हरिश्चन्द्र घाट की ओर बढ़े जा रहे थे। दूर से घण्टे घड़ियाल और शङ्ख की तुमुल ध्वनि आ रही थी। स्थान-स्थान पर गंगाजी की आरती उतारी जा रही थी। आरती का यह दृश्य इतना आह्लादकारी, इतना दिव्य और पावन था कि हृदय उस पर बरबस निछावर हो जाता था। काशी की वह शोभा, वह महामहिम तेज हृदय में सहसा भक्ति और श्रद्धा के भाव उद्बोधित कर रहा था! आंखों में, हृदय में भगवान शङ्कर की त्रिभुवनमोहिनी छवि नाच रही थी! गंगा का वह पावन 'अमृत' अनन्त प्रवाह सूर्य की अरुणिमा में कुछ और ही रूप धारण किये हुए था। लगातार दस वर्ष मैंने काशी मे गंगातट का प्रभात और सन्ध्या देखी है। प्रायः दोनों वेला गंगा मैया के तट पर जाकर मैंने हृदय को प्रेम में खूब नहलाया है। प्रभात की अरुणिमा में हमने एक (romance) चपलता, एक प्रखरता, एक अपूर्व आकर्षण और जादू का अनुभव किया है। प्रभात की अरुणिमा गुलाब की लालीसी मनोमोहक और मीठी-मीठी सुगन्ध से भीनी भीनी होती है; उसमें एक खींच लेने की, आकृष्ट कर लेने की अजेय शक्ति होती है। कभी भी ऐसा न हुआ होगा जब प्रभात की अरुणिमा देखकर हमारा हृदय आनन्द और प्रेमोल्लास में नाच न

उठा हो ! ऊपर से मधु की वर्षा होती रहती है, सामने गंगा मैया का पावन प्रवाह है, और दाहिने-बायें से मन्दिरों का तुमुल जयजयकार।

सन्ध्याकाल की अरुणिमा में एक गम्भीर पवित्रता होती है, विरह की एक अस्पष्ट छाया होती है। उषा की लाली romantic है, सन्ध्या की लाली solemn है, ऐसा ही बराबर मेरे हृदय ने अनुभव किया है। हाँ, ठीक इसी प्रकार की गम्भीर पवित्रता के वातावरण में हमलोग नाव में चले जा रहे थे। पं० भवानीशङ्करजी ने कोमल और धीमे शब्दों में छेड़ा—

'संसार का घोर-से-घोर नास्तिक भी आकर काशी में इस शोभा को देखे—हमारा ध्रुव विश्वास है कि परमात्मा की अपार सत्ता के सम्मुख उसका हृदय नत हुए बिना न रहेगा। वर्तमान बुद्धिवाद और आधिभौतिकवाद की सबसे सांहारिक शक्ति तोप-बन्दूकों में ही सीमित न रही अपितु तर्क के बल पर लोगों ने ईश्वर की सत्ता को भी अस्वीकार कर दिया।' ये शब्द जब पूज्य पण्डित जी कह रहे थे उस समय वे बहुत ही भावपूर्ण हो गये थे। उनकी आँखों से एक अपूर्व तेज निकल रहा था जो तीर की तरह सीधे हमारे हृदय में जाकर अन्धकार को छिन्न-भिन्न कर रहा था। उस सन्ध्या को पूज्य पण्डितजी के चरणों में जब मैं बैठा था, बार-बार हृदय से एक प्रार्थना निकल रही थी—

अक्लौं नसानी अब ना नसैहौं ।

रामकृपा भवनिसा सिरानी जागे फिर न डसैहौं ॥

विज्ञान की चकाचौंध में हमने आत्मा को रौंद दिया है, हृदय को कुचल दिया है। अब लोगों में 'क्या ईश्वर है ?'—ऐसा प्रश्न बहुधा पूछा जा रहा है। लोग समझने लगे हैं कि ईश्वर एक पुरानी खोपड़ी की उपज है। आज तो 'नवीनता' का परम लक्षण ईश्वर की सत्ता को मिटाकर 'नास्ति नास्ति' में विश्वास जमा देना ही समझा जाता है। यह है बनावटी (Superficial) जीवन का परिणाम। हम जीवन की तह में प्रवेश करने से डरते हैं, घबराते हैं। हमारी वृत्ति बहिर्मुखी हो गयी है—'खाओ, पीओ, मौज करो' ही हमारा परम लक्ष्य हो गया है।

ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करना व्यर्थ है। वह है क्योंकि वह है। हमारा देखना-सुनना, चलना-फिरना, खाना-पीना सभी परमात्मा से ही प्रेरित हो रहा है। वह है—ईश्वर है—इसके लिये प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं है। आँखें खोलकर अखिल विश्व को देखें या आँखें बन्द कर अपने हृदय के भीतर देखें सर्वत्र परमात्मा है। तर्क के द्वारा उसे जानना कठिन है। तर्क की वहाँ तक गति नहीं। उसे तो हृदय के भीतर ढूँढ़ना होगा और तभी उसके दर्शन होंगे। सभी बातों में 'क्यों' और 'कैसे' पूछने की आँधी पश्चिम से आयी है और धीरे-धीरे भारतवर्ष में अपना प्रभाव बढ़ा रही है।

भारतवर्ष मे अनादि काल से ही ईश्वर की अपार सत्ता में अखण्ड विश्वास का वातावरण रहा है। ऋषियों ने, बहुत प्राचीन काल में, प्रभु की परम सत्ता को घूँघट का पट हटा कर देखा था। वह अनादि सनातन-प्रवाह चलता चलेगा और इसे शङ्कर, रामानुज, वल्लभ, मध्व, रामानन्द, कबीर, नरसी, मीरा, रामकृष्ण, रामतीर्थ, गाँधी आदि ने अपने प्राण देकर प्रवाहित रक्खा है। आस्तिकता का यह अमृत-प्रवाह किस वेग और उमंग के साथ भारत में चलता रहा है।

आस्तिकता का प्राण है प्रार्थना। प्रार्थना में अमोघ शक्ति है, अतुल बल है। भारतवर्ष में तो प्रार्थना के महत्त्व को हम सभी स्वीकार करते हैं, पश्चिम में भी अब इसकी शक्ति की अपरिमेयता में लोगों का विश्वास बढ रहा है। लोग यह अब समझने लगे हैं कि प्रार्थना करना प्रत्येक व्यक्ति का मूल कर्तव्य है। प्रार्थना का यह अर्थ कदापि नहीं है कि देवता से हम किसी बात की याचना करते हैं। उसका एकमात्र अभिप्राय यह है कि हम अपनी विराट् सत्ता की ज्योति में अपने तुच्छ अहं को लय कर रहे हैं। प्रभु की इच्छा के सम्मुख हृदय को समर्पित कर रहे हैं। हम अपने भीतर के प्रकाश को चराचर में बिखरे हुए प्रकाश में मिला रहे हैं और अपनी अनन्त, अमर सत्ता की अनुभूति में, अपने 'प्राण' के पावन मधुर स्पर्श में अपनी तुच्छ व्यक्तिगत सत्ता का लोप कर रहे हैं। प्रार्थना का सारतत्व यही है।

जिस पश्चिम की भद्दी नकल कर हमने अपनी सभ्यता, अपना आचार, अपने विचार और अपनी संस्कृति को भुला दिया है और जहाँ के अन्धानुकरण में भारतीयता एक प्रकार से लुप्त-प्राय हो चली है वहाँ भी लोग प्रार्थना को महत्वपूर्ण वस्तु मानते हैं। प्राचीन काल में हमारे यहाँ तो सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते, चलते-फिरते हर समय प्रार्थना की प्रथा थी और लोगों का यह दृढ़ विश्वास था कि परमात्मा के संकेत पर ही यह समस्त चराचर अपना अस्तित्व बनाये हुए है। अस्तु।

पूर्व और पश्चिम में समान रूप से मनुष्य परमात्मा के चरणों में आत्मनिवेदन करने के लिये निम्नलिखित भावनाओं से प्रेरित हुआ है।

(१) यह दृश्य जगत् उस अनन्त आध्यात्मिक ब्रह्माण्ड का एक परमाणु मात्र है जहाँ से इसे शक्ति, प्रकाश और जीवन की स्फुरणा मिलती है।

(२) उस अनन्त परमात्मशक्ति में अपने को लय कर देना, पूरी तरह मिला देना ही हमारे जीवन का एकमात्र और परम उत्कृष्ट उद्देश्य है।

(३) प्रार्थनाद्वारा ही हमारा उस अनन्त शक्ति से जिसे ईश्वर कहें या 'विधान', सम्मिलन होता है। प्रार्थना के समय ही वह अचिन्त्य सत्ता अपने प्रवाह को हमारी ओर मोड़ देती है और हमारा उससे मिलने की मधुर क्रिया का उपन्यास यहीं से प्रारम्भ होता है। वह आध्यात्मिक शक्ति पिघल कर,

ढलकर हमारी अन्तरात्मा को अपने में एकाकार कर लेती है। इस प्रकार इस दृश्य जगत् में स्थूल, मानसिक अथवा आध्यात्मिक प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं।

(४) इस शक्ति के सम्यक् आविर्भूत हो जाने से और हमारे जीवन की अन्तर्धारा में एकरस हो जाने से हम अपूर्व स्फूर्ति, उत्साह, आनन्द की प्रेरणा अनुभव करते हैं, क्योंकि ब्रह्माण्ड की सञ्चालिका शक्ति अपनी स्फुरणा हम में भर देती है।

पूर्व में या पश्चिम में प्रार्थना की प्रेरक भावना समान रूप से यही है। प्रार्थना ही धर्म की मूल आत्मा है इसे कोई अस्वीकार कैसे करेगा? एक फ्रेंच महात्मा ने प्रार्थना की बड़ी सुन्दर परिभाषा लिखी है—'धर्म की आत्मा तभी जागृत होती है जब हमारे अन्तःकरण से एक करुण चीख अपने प्राणवल्लभ प्रभु से मिलने के लिये उठती है। परमात्मा के साथ हमारा यह महामिलन (Intercourse) ही सच्ची प्रार्थना है। प्रार्थना ही धर्म का वास्तविक क्रियात्मक स्वरूप है, प्रार्थना ही एक मात्र सच्चा धर्म है। जहाँ इस आन्तरिक प्रार्थना का अभाव है वहाँ धर्म भी मिट जाता है। जब प्रार्थना आत्मा को आन्दोलित कर दे, जब यह अन्तस्तल के एक-एक तन्तु को हिला दे, जगा दे तभी हम धर्म के सत्यस्वरूप के स्पर्श में आ जाते हैं।'

प्रार्थना के समय तो भीतर ही भीतर ऐसा प्रतीत होता है मानो मिलने की भूख-प्यास इधर भी थी, 'उधर' भी। प्रार्थना में जीवन का एक-एक परमाणु सञ्चालित और आन्दोलित हो जाता है। धर्म का व्यावहारिक स्वरूप तो प्रार्थना ही में उत्फुल्ल हो उठता है। प्रार्थना के समय हम प्रभु में मिल जाते हैं अतः हमारी शक्ति और सत्ता का विस्तार अनन्त शाश्वत एवं परम विराट् हो जाता है।

ब्रिस्टल में जार्ज मूलर नाम का एक प्रसिद्ध दानी और परोपकारी महापुरुष हो चुका है। १८६८ मे उसकी मृत्यु हुई। जीवन के प्रारम्भिक काल में उसने बाइबिल से कुछ प्रतिज्ञाएँ लीं और उन्हें कार्यरूप में परिणत करने लगा। उसने भिन्न-भिन्न भाषाओं में दो करोड़ बाइबिल की प्रतियाँ मुफ्त बांटीं। वह पांच अनाथालय चलाता रहा, जिनमें हजारों अनाथों की शिक्षा-दीक्षा, भोजन-वस्त्र की सुन्दर व्यवस्था थी। स्कूल खुलवाये, जिनमें बारह हजार विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। ६८ वर्ष तक वह राज्य का महामन्त्री रहा, परन्तु अपने पास उसके साधारण कपड़े और सामान के सिवा कोई सम्पत्ति न थी। मूलर एक प्रकार से ब्रिस्टल का महामना मालवीय जी ही था।

उस परम दानी मूलर का यह स्वभाव था कि अपनी साधारण बातों को तथा महात्त्वाकांक्षाओं को किसी पर भी प्रकट नहीं होने देता था। अपना हृदय वह केवल परमात्मा के

सामने खोले रखता था। उसकी जब एक कुंजी खो जाती, कोई कठिन बात समझ में न आती तो बैठकर बड़े ही करुण शब्दों में ईश्वर से प्रार्थना करता। मूलर किसी भी मनुष्य का अहसान नहीं लेना चाहता था। उसका नियम ही था 'Owe no man anything' जब उसके अनाथालयों या स्कूलों के लिये रुपये की आवश्यकता होती तो बैठकर बडे ही आतुर शब्दों में भगवान् से प्रार्थना करता। एक समय की बात है। सन्ध्या हो चुकी थी। अनाथालय मे जलावन न था। यों तो कोई भी व्यापारी लाखों रुपये की वस्तु उसे उधार दे सकता था, परन्तु मूलर का एक यह भी सिद्धान्त था कि कोई भी वस्तु ऐसी न खरीदो जिसका मूल्य उसी समय चुकता न कर दो। अब जलावन आवे तो कहाँ से—इसी चिन्ता में वह था। वह अपने कमरे को बन्द कर प्रार्थना करने लगा—आँखों से आँसुओं की धारा बह चली—'प्रभो! इन अनाथालयों का भार मैंने तुम्हारे ही बल पर लिया है। इन अनाथों की चिन्ता तुम्हारे ऊपर है। उन्हें रोटी पहुँचाना तुम्हारा काम है…' प्रार्थना पूरी भी न हुई थी कि दरवाजे पर खटखटाहट की आवाज आयी और ज्यों ही कमरा खोला, उसने देखा, अनाथालय के सहायता-खाते में दो हजार पचास पौण्ड किसी ने भेजे थे! वह बराबर कहा करता था, 'I believe that God hears me'—'मेरा यह विश्वास है कि प्रभु हमारी प्रार्थना सुनते हैं।'

प्रार्थना के समय स्वतः चित्त के अहङ्कार, दम्भ, पाप, पाखण्ड आदि धुल जाते हैं। हृदय का वातायन खुल जाता है और परमात्मा का शुभ्र प्रकाश हमारे हृदय के अन्तस्तल में आ जाता है। समस्त अन्तर्जगत् प्रकाशमय, ज्योतिर्मय हो जाता है। महात्मा एपिक्टेटस कहता है, 'वह प्रभु जिसने घास से दूध, दूध से पनीर और मक्खन और खाल से ऊन बनाया, क्या हमारा कर्त्तव्य नहीं है कि हम उसके चरणों में उसकी अनन्त कृपाओं के लिये माथा टेकें ?' उसका कथन है 'We are actually killed with God's kindness' तात्पर्य यह है कि प्रार्थना के समय हमारी आन्तरिक आध्यात्मिक शक्ति जो यों व्यर्थ ही सोयी रहती है, जागृत हो जाती है और हमारे जीवन का आध्यात्मिक प्रकाश बल उठता है, हृदय का कोना-कोना जगमग-जगमग करने लगता है।

प्रार्थना में माँगने की प्रवृत्ति, रोग, विपत्ति, ऋण, आपदा आदि से बचने की कामना और इन कामनाओं की पूर्ति के लिये परमात्मा से प्रार्थना करना मनुष्य की आदिम वृत्ति है। अन्त में चलकर तो माँगने की प्रवृत्ति स्वयं मिट जाती है। क्या माँगा जाय ? समस्त विश्व के अधिपति, समस्त चराचर के अधिनायक प्रभु की सारी सम्पत्ति ही तो हमारी है। फिर माँगना क्या ? सब कुछ तो, हम भी तो 'उसी' देवता की सम्पत्ति हैं जिसके चरणों मे हम आत्मसमर्पण कर रहे हैं। प्रार्थना की सरिता आत्मसमर्पण के महासमुद्र मे जाकर लय हो जाती है।

सामने खोले रखता था। उसकी जब एक कुंजी खो जाती, कोई कठिन बात समझ में न आती तो बैठकर बड़े ही करुण शब्दों में ईश्वर से प्रार्थना करता! मूलर किसी भी मनुष्य का अहसान नहीं लेना चाहता था। उसका नियम ही था 'Owe no man anything' जब उसके अनाथालयों या स्कूलों के लिये रुपये की आवश्यकता होती तो बैठकर बड़े ही आतुर शब्दों में भगवान् से प्रार्थना करता! एक समय की बात है। सन्ध्या हो चुकी थी। अनाथालय में जलावन न था। यों तो कोई भी व्यापारी लाखों रुपये की वस्तु उसे उधार दे सकता था, परन्तु मूलर का एक यह भी सिद्धान्त था कि कोई भी वस्तु ऐसी न खरीदो जिसका मूल्य उसी समय चुकता न कर दो। अब जलावन आवे तो कहाँ से—इसी चिन्ता में वह था। वह अपने कमरे को बन्द कर प्रार्थना करने लगा—आँखों से आँसुओं की धारा बह चली—'प्रभो! इन अनाथालयों का भार मैंने तुम्हारे ही बल पर लिया है। इन अनाथों की चिन्ता तुम्हारे ऊपर है। उन्हें रोटी पहुँचाना तुम्हारा काम है...' प्रार्थना पूरी भी न हुई थी कि दरवाजे पर खटखटाहट की आवाज आयी और ज्यों ही कमरा खोला, उसने देखा, अनाथालय के सहायता-खाते में दो हजार पचास पौण्ड किसी ने भेजे थे! वह बराबर कहा करता था, 'I believe that God hears me'—'मेरा यह विश्वास है कि प्रभु हमारी प्रार्थना सुनते हैं।'

प्रार्थना के समय स्वतः चित्त के अहङ्कार, दम्भ, पाप, पाखण्ड आदि धुल जाते हैं। हृदय का वातायन खुल जाता है और परमात्मा का शुभ्र प्रकाश हमारे हृदय के अन्तस्तल में आ जाता है। समस्त अन्तर्जगत् प्रकाशमय, ज्योतिर्मय हो जाता है। महात्मा एपिक्टेटस कहता है, 'वह प्रभु जिसने घास से दूध, दूध से पनीर और मक्खन और खाल से ऊन बनाया, क्या हमारा कर्त्तव्य नहीं है कि हम उसके चरणों में उसकी अनन्त कृपाओं के लिये माथा टेकें ?' उसका कथन है 'We are actually killed with God's kindness' तात्पर्य यह है कि प्रार्थना के समय हमारी आन्तरिक आध्यात्मिक शक्ति जो यों व्यर्थ ही सोयी रहती है, जागृत हो जाती है और हमारे जीवन का आध्यात्मिक प्रकाश वल उठता है, हृदय का कोना-कोना जगमग-जगमग करने लगता है।

प्रार्थना में माँगने की प्रवृत्ति, रोग, विपत्ति, ऋण, आपदा आदि से बचने की कामना और इन कामनाओं की पूर्ति के लिये परमात्मा से प्रार्थना करना मनुष्य की आदिम वृत्ति है। अन्त में चलकर तो माँगने की प्रवृत्ति स्वयं मिट जाती है। क्या माँगा जाय ? समस्त विश्व के अधिपति, समस्त चराचर के अधिनायक प्रभु की सारी सम्पत्ति ही तो हमारी है। फिर माँगना क्या ? सब कुछ तो, हम भी तो 'उसी' देवता की सम्पत्ति हैं जिसके चरणों में हम आत्मसमर्पण कर रहे हैं। प्रार्थना की सरिता आत्मसमर्पण के महासमुद्र में जाकर लय हो जाती है।

वहाँ न कुछ इच्छा है, न कामना। बस, वहाँ एक ही ध्वनि है—
एक ही तान है—

मालिक तेरी रजा रहे औ तू ही तू रहे।
बाकी न मैं रहूं, न मेरी आरजू रहे॥
राजी हैं हम उसी में जिसमें तेरी रजा है।
यों यूँ भी वाह वा है औ वूँ भी वाह वा है॥

जड़-उपासना

चेतन और जड़, विद्या और अविद्या, प्रकाश और अन्धकार, गुण और दोष से पूर्ण यह विचित्र सृष्टि रचकर प्रभु ने मनुष्य को विवेक तथा बुद्धि दी जिसके सहारे वह जड़, अविद्या, अन्धकार और दोष का परित्याग कर चेतन, विद्या, प्रकाश और गुण का आश्रय लिये रहे और अपने सत्यस्वरूप को जानते हुए परमात्मपथ में उत्साह और उल्लास के साथ चले। मनुष्य के विवेक और बुद्धि में जबतक परमात्मा का प्रकाश जगमगाता रहता है तबतक वह अपने उद्देश्य-पथ पर निश्चलरूप से चलता रहता है। शुद्ध बुद्धि का लक्षण यह है कि उसमें परमात्मा का आश्रय, भगवान् का भरोसा अक्षुण्णरूप से बना

का हमारा जो भी प्रयत्न होगा उसे अहितकारी समझ कर वह और भी जी छोड़कर लू और लपटों मे ही भागेगा। यह नहीं कि उसे 'लू' की लपटें सताती नहीं, जलाती नहीं। वह जितना ही बढ़ता है उतना ही जलता है, परन्तु आगे जो जल की लहरों का समुद्र लहरा रहा है उसे पिये बिना कैसे लौटे? असत् में सद्बुद्धिका परिणाम भीषण ज्वाला, दारुण विपत्ति ही है। महाप्रभु ने इसे ही 'विषभक्षण' कहा है।

अनादिकाल से ही हमारे ऋषि-मुनि पहाड़ की चोटी पर खडे होकर डंके की चोट कहते आये हैं कि जिस जगत् के रूप पर तुम मुग्ध हो उसका एक बार भी तो घूँघट उठाकर मुख देख लो! आवरण पर प्राण गँवाना कहाँ की बुद्धिमानी है? जरा एक क्षण के लिये बिलम कर, इस मोहक आवरण को हटाकर अपने प्रियतम जगत की झाँकी भी तो लो। जिस क्षण इस जगत् को सच्चे रूप में देख लोगे, उसी क्षण इसका नकशा ही बदल जायगा और उसी क्षण तुम्हारा जलना-तपना भी सदा के लिये मिट जायगा। भवताप से तुम मुक्त हो जाओगे। परन्तु हमारी दशा तो ठीक उस मृगछौने की-सी है, जो लू-लपटों में झुलसता हुआ भी सुख-जल की आशा और तृष्णा मे बुरी तरह भागा जा रहा है। ऋषि-मुनियों के इन उपदेशों को हम सुनते-पढते हैं, परन्तु भीतर ऐसा भासता है--अरे! ये हमें संसार से अलग करने और हमारा सुख छीनने पर तुले हुए हैं। इन्हें संसार-सुख का क्या पता! इन्होंने तो जंगलों-पहाड़ों

की हवा खायी है। ये तो हमें संसार से अलग रहकर एकान्त-सेवन का उपदेश देंगे ही, परन्तु हम भला ऐसे मूर्ख थोडे हैं कि सामने के लहराते हुए संसार-सुख की अनन्त अपार राशि को ठुकरा दें ?

संसार के सुख और भोग की प्राप्ति के लिये हम आज विनाश-सर्वनाश के पथ पर सरपट भागे जा रहे हैं। संग्रह-परिग्रह का भूत सिर पर सवार है और जगत्-पिशाच से ग्रस्त होकर हमने बुद्धिभ्रंश के कारण आयात रमणीय पदार्थों मे सुख मान रखा है। अमुक वस्तु को जुटाओ, उसमें सुख की प्राप्ति होगी, इस वस्तु का संग्रह करो, उससे सुख का अमृत झरेगा! यह जुटाओ, वह जुटाओ; इसका संग्रह करो, उसका परिग्रह करो—बस अब क्या, अब तो एक क्षण में सभी सुख बरसने ही वाला है! एक पग आगे बढ़ाया कि सुख का लहराता हुआ समुद्र चरणों में लोटेगा। कैसी शीतल लहरें आ रही हैं! यह सुखद शीतल मादक स्पर्श! इस ओर से सुख की बाढ़िया उमड़ी आ रही होगी—हम जी भरकर सुख लूटेंगे। अपने तो लूटेंगे ही, अपने बाल-बच्चों के लिये भी सुख का संग्रह कर जायेंगे! उनके लिये सुख की इतनी सामग्रियाँ इकट्ठी कर जायेंगे कि वे सुख मे डूबे ही रहेंगे, कभी सुख का अभाव होगा ही नहीं। बस क्या है—यह जमा करो, उसे जुटाओ, यह बनवाओ, वह तैयार करो, इसे मारो, उसे मिटाओ—हम अपने सुख का एक भी बाधक नहीं रहने देंगे और उसकी जितनी भी

साधक सामग्रियाँ होंगी उन सब का संग्रह कर लेंगे—फिर भय काहे का, चिन्ता किस बात की ?

विनाश के पथ पर द्रुतगति से दौड़नेवालों में एक बड़ी विकट प्रतियोगिता, एक विचित्र होड़-सी लगी हुई है। हम अपने सर्वनाश की सारी सामग्री जुटा कर ही सन्तुष्ट नहीं होते। हम देखते हैं कि हम से आगे दौड़नेवाले के पास अधिक सामग्री है, अधिक परिग्रह है—जिसे हम वैभव-ऐश्वर्य कहते हैं, सुख के बहुत अधिक साधन और सामान विद्यमान हैं—फिर क्यों न हम उन साधनों को भी इकठ्ठा कर लें, क्यों न जीवन का 'सदुपयोग' और 'सदव्यय' कर लें ! अपने लिये सभी सामान इकठ्ठा कर लिया तो क्या हुआ—बाल-बच्चों के सुख का कोष कभी खाली न पड़ने पावे, यह देखना भी तो हमारा ही कर्त्तव्य है। गर्ज यह कि कोई भी अपनी स्थिति से—चाहे वह, कितनी भी ऐश्वर्यमयी क्यों न हो—सन्तुष्ट नहीं है। जिसके पास महल-अटारी है वह ऐसे ही दस-बीस और चाहता है—वह भी यदि हो गया तो इच्छा और तृष्णा फिर असंख्यगुना बढ़ी और फिर.........!! तृष्णा का भी कहीं ओर-छोर है ? मरीचिका की भी कहीं 'इति' है ? जिसके पास मोटर है, वह हवाई जहाज के लिये तड़प रहा है; जिसके पास हवाई जहाज है, वह साम्राज्य स्थापित करने की ज्वाला में झुलस रहा है, जिसे साम्राज्य है वह संसार पर अपना एकछत्र शासन चाहता है.........!!! इसी वृत्ति का नाम 'जड उपासना' है।

जड-उपासना, शिव को छोड कर शव की आराधना पाश्चात्त्य संस्कृति के विप-वृक्ष का फल है। आज तो समस्त ससार इस ज्वाला मे झुलस रहा है और लोग इसे सुख का सुन्दर अमृत-निर्झर मानकर इसमे आकण्ठ डूबे हुए हैं। जड सभ्यता ने आत्मा के स्थान पर शरीर की, परमात्मा के स्थान पर जगत् की, अत्मकल्याण के स्थान पर सर्वनाश की और विश्व-कल्याण के स्थान पर संहार की प्रतिष्ठा की है। सब अपनी ही ऐश्वर्यवृद्धि में व्यस्त हैं—मानो किसी को दूसरे की ओर देखने, उसके सुख-दु:ख सुनने का कोई अवकाश ही नहीं है। दूसरे को गिराकर, जगत् के सभी प्राणियों को मिटाकर उसकी छाती पर हम अपने ऐश्वर्य का महल खड़ा करना चाहते हैं। ऊँचे-ऊँचे भव्य महलों के पड़ोस में टूटी-फूटी झोपड़ियाँ; विलास, वैभव, और नाच-रग के पास ही भीषण दरिद्रता का करुण आर्त चीत्कार, मोटर की धूल में गड़े हुए कङ्काल नर-नारियों के करुण कङ्काल, तोप, मशीनगन और हवाई जहाजो की अग्नि-वर्षा में पति और पुत्र को खोकर, तडपती हुई विधवा और अनाथिनी का हृदयवेधक हाहाकार; प्रभुओ का दीन-हीन किसानो पर रौरव अत्याचार, धनमद में झूमते हुए, वेश्या और वारुणी में डूबे हुए बाबुओं और मालिकों के प्रमत्त अट्टहास के पास ही दाने-दाने के लिये तरसते हुए, लज्जा ढकने भर के वस्त्र के लिये बिलखते हुए लाखों नर-नारियों का गगनभेदी करुणक्रन्दन—इस पश्चात्त्य संस्कृति के

विष-फल हैं। समस्त प्रकार के संयम-नियम हटाकर, सब तरह के बन्धन और मर्यादा को तोड़ कर विलासिता, व्यसन, पापाचार, सुखसम्भोग में आत्मविस्मृत रहना, यही आधुनिक जड़ सभ्यता (materialism) का पुण्य फल है। और आश्चर्य तो यह है कि इसे ही हम मान रहे हैं उन्नति, विकास, सुधार और सुख-वृद्धि! पुरुषों के हिस्से नृशंसता और स्त्रियों के हिस्से उच्छृङ्खलता और स्वेच्छाचारिता पड़ी है। सिनेमा-थियेटरों में रूप का जाल बिछाकर, नग्न सौन्दर्य की वारुणी पिलाकर क्वाँरी लड़कियाँ और मिसें अपने कला-विज्ञान का बहुत सुन्दर परिचय दे रही हैं। पुरुष अपनी माँ-बहनों पर भी पापपूर्ण दृष्टि डालते हुए सङ्कोच नहीं करता! पुरुष नारी को अपने विलास-भोग की सामग्री समझे हुए है और नारी अपने रूप—सौन्दर्य के बलपर पुरुषों को पतन के गह्वर में गिराने की! एक ओर वैभव, ऐश्वर्य का प्रमत्त अट्टहास है; दूसरी ओर दरिद्रता, नग्नता, अपमान और प्रताड़ना का नग्न नृत्य!!

पाप, अत्याचार, उत्पीडन और उच्छृङ्खलता का संसार की छाती पर जब ताण्डव नृत्य होने लगता है और इसके कारण जब विषमता और विरोध की विभीषिका विश्व को जलाने लगती है, संसार में हाहाकार का दारुण चीत्कार होने लगता है, तब भगवान् शङ्कर का क्रोधस्फीत तीसरा नयन खुलता है, जिससे अग्नि की धारा-सी छूट पड़ती है और जिसमें पड़कर सारी विषमता, सारा विरोध, सारे पाप-ताप-अत्याचार भस्म

हो जाते हैं। मानवता के इस विध्वंस में भी प्रभु का कल्याण-भाव ही है और वे मन्द-मन्द मुसका रहे हैं! इस विध्वंस-लीला के अनन्तर नवीन सृष्टि, नवीन रचना होती है, जिसमें पुनः शुद्ध प्रज्ञा और निर्मल विवेक का अवतार होता है।

चरकसंहिता के 'विमानस्थानम्' प्रकरण के तृतीय अध्याय में 'जनपदध्वंसन' का वर्णन आया है। एक समय भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने अपने शिष्य अग्निवेश से कहा कि नक्षत्र, ग्रह, चन्द्र, सूर्य, अग्नि, पवन और दिशाओं की प्रकृति में विकृति आयी-सी मालूम होती है। मालूम होता है, थोड़े दिनों बाद ही पृथ्वी और औषधों का गुण जाता रहेगा और इस कारण लोग नित्यरोगी हो जायेंगे। इसके फलस्वरूप जनपद का उद्ध्वंसन उपस्थित होगा।

मनुष्य की प्रकृति मे विभिन्नता होने पर भी उनके अन्दर कुछ समानता है और उस समानता के कारण ही समान काल में समस्त व्याधियाँ उपस्थित होकर जनपद का नाश करती हैं। उल्कापात, निर्घात और भूकम्प इसके लक्षण हैं। गुरु की भविष्यवाणी सुनकर शिष्य को बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने प्रश्न किया—ऐसी विकृति और तज्जन्य जनपद-ध्वस क्यों उपस्थित होता है?

इसका उत्तर भगवान् आत्रेय देते हैं—वायु आदि मे जो वैगुण्य उपस्थित होता है, उसका कारण अधर्म है। पूर्वकृत असत् कर्म ही उसके कारण हैं। उस अधर्म और असत् कर्म

विष-फल हैं। समस्त प्रकार के संयम-नियम हटाकर, सब तरह के बन्धन और मर्यादा को तोड़ कर विलासिता, व्यसन, पापाचार, सुखसम्भोग में आत्मविस्मृत रहना, यही आधुनिक जड सभ्यता (materialism) का पुण्य फल है। और आश्चर्य तो यह है कि इसे ही हम मान रहे हैं उन्नति, विकास, सुधार और सुख-वृद्धि! पुरुषों के हिस्से नृशंसता और स्त्रियों के हिस्से उच्छृङ्खलता और स्वेच्छाचारिता पड़ी है। सिनेमा-थियेटरों में रूप का जाल बिछाकर, नग्न सौन्दर्य की वारुणी पिलाकर क्वाँरी लड़कियाँ और मिसें अपने कला-विज्ञान का बहुत सुन्दर परिचय दे रही हैं। पुरुष अपनी माँ-बहनों पर भी पापपूर्ण दृष्टि डालते हुए सङ्कोच नहीं करता! पुरुष नारी को अपने विलास-भोग की सामग्री समझे हुए है और नारी अपने रूप—सौन्दर्य के बलपर पुरुषों को पतन के गह्वर में गिराने की! एक ओर वैभव, ऐश्वर्य का प्रमत्त अट्टहास है; दूसरी ओर दरिद्रता, नग्नता, अपमान और प्रताड़ना का नग्न नृत्य!!

पाप, अत्याचार, उत्पीडन और उच्छृङ्खलता का संसार की छाती पर जब ताण्डव नृत्य होने लगता है और इसके कारण जब विषमता और विरोध की विभीषिका विश्व को जलाने लगती है, संसार में हाहाकार का दारुण चीत्कार होने लगता है, तब भगवान् शङ्कर का क्रोधस्फीत तीसरा नयन खुलता है, जिससे अग्नि की धारा-सी छूट पड़ती है और जिसमें पड़कर सारी विषमता, सारा विरोध, सारे पाप-ताप-अत्याचार भस्म

हो जाते हैं। मानवता के इस विध्वंस में भी प्रभु का कल्याण-भाव ही है और वे मन्द-मन्द मुसका रहे हैं! इस विध्वंस-लीला के अनन्तर नवीन सृष्टि, नवीन रचना होती है, जिसमे पुनः शुद्ध प्रज्ञा और निर्मल विवेक का अवतार होता है।

चरकसंहिता के 'विमानस्थानम्' प्रकरण के तृतीय अध्याय में 'जनपदध्वंसन' का वर्णन आया है। एक समय भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने अपने शिष्य अग्निवेश से कहा कि नक्षत्र, ग्रह, चन्द्र, सूर्य, अग्नि, पवन और दिशाओं की प्रकृति में विकृति आयी-सी मालूम होती है। मालूम होता है, थोड़े दिनों बाद ही पृथ्वी और औषधों का गुण जाता रहेगा और इस कारण लोग नित्यरोगी हो जायेंगे। इसके फलस्वरूप जनपद का उद्ध्वंसन उपस्थित होगा।

मनुष्य की प्रकृति में विभिन्नता होने पर भी उनके अन्दर कुछ समानता है और उस समानता के कारण ही समान काल मे समस्त व्याधियाँ उपस्थित होकर जनपद का नाश करती हैं। उल्कापात, निर्घात और भूकम्प इसके लक्षण हैं। गुरु की भविष्यवाणी सुनकर शिष्य को बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने प्रश्न किया—ऐसी विकृति और तज्जन्य जनपद-ध्वंस क्यों उपस्थित होता है?

इसका उत्तर भगवान् आत्रेय देते हैं—वायु आदि मे जो वैगुण्य उपस्थित होता है, उसका कारण अधर्म है। पूर्वकृत असत् कर्म ही उसके कारण हैं। उस अधर्म और असत् कर्म

जीवनरास

नाचूँ, नाचूँ मैं महाराज।
मधुवा लब, बदमस्तीवाला, नाचूँ पी-पी आज।
हरि मोरे पिय, मैं हरि की पियारी, नाचूँ हो निरलाज॥
नाचूँ नाचूँ मैं महाराज।

—स्वामी रामतीर्थ

प्रभु के ताल और संकेत पर हम सभी नाच रहे हैं। यह नृत्य अविराम प्रतिपल प्रतिछन चल रहा है। हम चाहें भी तो इस नृत्य से अलग नहीं हो सकते। समस्त सृष्टि, अखिल ब्रह्माण्ड हरि के नूपुरों की रुमझुम की झंकार से झंकृत है। एक क्षण भी ऐसा नहीं होता जब माधव की मुरली न बजती हो, एक पल भी ऐसा नहीं बीतता जिसमें उनके नूपुर एक विशिष्ट स्वरलहरी के साथ न बज रहे हों। समस्त ब्रह्माण्ड, अनन्त

लोक नटनागर के चरणों में छोटे-छोटे परमाणुओं के समान घुँघुरू के चारों ओर नाच रहे हैं और जो कुछ भी गति अथवा स्पन्दन है वह उस अखण्ड नृत्य-विलास, लीलामाधुर्य से अनुप्राणित तथा अभिप्रेरित है। हृदय के अन्त.पुर मे अथवा विश्व-वृन्दावन में, समान भाव से भीतर-वाहर एक अमित उल्लास के साथ यह रास हो रहा है। इस रास की फाँस मे हम सभी गुँथे हुए हैं। रास की अमृतधारा में हम सभी वेसुध हैं, वेसँभार हैं।

वीच मे त्रिभुवनमनमोहन श्यामसुन्दर नटनागर आदि-जगज्जननी, महामाया राधारानी के साथ महाभाव का रस वरसाते हुए, एक दिव्य लास्य में, एक अप्राकृत भावभंगी तथा दिव्य स्वर-मूर्च्छना की सृष्टि कर रहे हैं। यही प्रकृति-पुरुप का लीलाविलास है, यही माया और मायापति का अलौकिक महामिलन है। जगत् का सारा आनन्द, सारा शृङ्गार, सारा माधुर्य, सारी शोभा और सारा लावण्य उस मूल संयोग की एक लहर का लीला-विस्तार है। सव कुछ वहीं से आ रहा है। वही मूलस्रोत है, वही सत्य सनातन मधु-उत्स है। वहीं से नित्य निरन्तर अमृत झरता रहता है। वह 'संयोग' ही सृष्टि की मूल प्रेरणा है; वहीं सत्-चित-आनन्द का उन्मेप होता है। इसी का वर्णन उपनिपदो ने किस उल्लासपूर्ण भापा मे किया गया है—'मधुवाता ऋतायते, मधु क्षरन्ति सिन्धवः। मधुमत्पार्थिवं रजः मध्वीर्गावो भवन्तुनः।'

मिलन की यह अतृप्त वासना—सदा 'उस' के आलिङ्गनपाश में बँधे होने पर भी बार-बार उसे देखते रहने का लोभ कितना सम्मोहक है !

जनम अवधि हम रूप निहारनु
नयन ना तिरपित भेल।
लाख लाख युग हियाय राखनु
तबू हिया जुड ना गेल॥
वचन-अमिय अनुक्षण सुनुलू
श्रुतिपथ परश न भैल॥

जन्म-जन्म से हम उस रूप को देखते आये हैं, पर आँखें तृप्त न हुई। लाख-लाख युगों से उसे हृदय में छिपा रखा फिर भी हृदय जुडाया नहीं। प्रतिक्षण उसकी बातें सुनता हूँ फिर भी मानों उसकी वाणी ने कभी मेरे कानों का स्पर्श भी नहीं किया !

आश्चर्य, महान् आश्चर्य तो इसमे है कि हम यही अनुभव करते हैं कि हमने ही, केवल हमने ही हरि को अपने प्राणों मे छिपा रखा है, हम ही इस अमृत-आनन्द का रस पीते हैं, केवल हमें ही रास का सयोग हमारे प्राणाधार ने दिया है ! हम यही समझ बैठे हैं कि हरि का मुख हमारी ही तरफ, केवल हमारी ही तरफ है, उनकी अलकावलि में जो लहरें हैं, उनकी भ्रू मे जो भङ्गिमा है, गले में जो नीचे तक लटकती हुई दिव्य मनोहर वनपुष्पों की माला है, यह केवल हमें ही देखने को मिल रही है। हम उस दिव्य झाँकी में अपने आपको भूल-

कर अपने को खो वैठते हैं और स्पष्ट यह दीखने लगता है कि आगे हरि, पीछे हरि, दाहिने हरि, वायें हरि, ऊपर हरि, नीचे हरि, भीतर हरि, वाहर हरि, केवल हरि ही हरि, हरि के सिवा कुछ है ही नहीं—उस अपार आनन्द में अलमस्त होकर भीतर ही भीतर यह अनुभव करने लगते हैं।

तुमि वंधु तुमि नाथ, निशिदिन तुमि आमार।
तुमि सुख तुमि शान्ति तुमि हे अमृत पाथार॥
तुमि तो आनन्दलोक जुडावो प्राण नाशो शोक।
तापहरन तोमार चरन असीम शरम दीन जनार॥

तव ऐसा मालूम होता है कि इस आनन्द का औरों को क्या पता? औरों को हरि के इस रास-रस का क्या अनुभव? यह तो वस हमारा ऐकान्तिक आनन्द है। यह है भी वास्तव मे स्वाभाविक ही। रास मे प्रत्येक गोपी यही जानती थी कि कृष्ण केवल हमारे ही साथ हैं। उन्हें यह पता नहीं था कि उनका दाहिना हाथ भी कृष्ण के हाथ में और वायाँ हाथ भी कृष्ण के हाथ में था। उन्हे यह भी देखने का अवसर नहीं था कि वीच मे समस्त विस्तार के केन्द्र मे जो कृष्ण खड़ा है, उसके साथ भी एक 'और' है। उस 'और' की ओर देखने-दिखाने का उन्हें अवकाश ही कहाँ था? मिलन के पूर्व राधा का शृङ्गार जो वे अपने हाथों करती थीं उसमे उनका अपना ही स्वार्थ था—उनके प्राणराम हरि को प्रगाढ़ आनन्द मिले, उनके प्रियतम परम सुखी हों—एकमात्र यही उनका अभिप्राय था। राधा के

मिस कृष्ण का आनन्द बढ़े इससे बढ़कर उनके सुख का कारण क्या हो सकता था? यह सब होते हुए भी गोपियों का हरि से मिलना राधा को मध्यस्थ बनाकर नहीं था—वहाँ मध्यस्थ की गुंजाइश ही कहाँ? वहाँ तो बीच का एक हार ही खल रहा था। हरि के स्पर्श में उनके प्राण बेसुध थे, डूबे हुए थे। सखी के प्राणों में भी हरि की वही लीला हो रही है जो उनके भीतर—यह समझने की सुध ही उन्हें कहाँ थी? अरे! उन्हें तो अपने शरीर का भी भान नहीं था। रास के पूर्व ही, ज्योत्स्नाप्लावित यमुनातट पर कुञ्जों के भीतर से माधव ने जब मुरली छेड़ी बस उस टेर पर ही तो वे प्राणों को निछावर कर चुकी थीं। इस आवाहन, इस आमन्त्रण ने उनके हृदय को, समग्र चेतना को अभिभूत कर लिया, वशीभूत कर लिया। एक-एक गोपी का वंशी मे नाम ले लेकर वह नट-नागर संकेत द्वारा अपने पास बुला रहा था—'नाम समेतं कृत संकेतं वादयते मृदुवेणुम्।' कान की बाली हाथ के कङ्कण में, गले का चन्द्रहार कटि की करधनी में परिवर्तित हो गयी तो क्या आश्चर्य? वे अपने प्राणप्यारे बच्चों को दूध पिला रही थीं, बीच में ही बच्चे को छोड़कर चल दीं। इस 'आमन्त्रण' का सम्मोहन ही ऐसा प्रगाढ़ था। अपने को सँभाल सकें—यह कैसे होता? जिस प्रकार नदी समुद्र के पास आ जाने पर शत-शत धाराओं में विकल होकर, पागल होकर मिलने के लिये दौड़ती है, यही दशा उन गोपियों की भी थी।

कई जन्मों से वे हरि को प्राणवल्लभ के रूप में पाने के लिये जप-तप करती आई' थीं। आज जब उनका चिरवांछित प्रणय परिणय दशा को—वह भी स्वयं प्राणाधार की अनन्य अनुकम्पा से प्राप्त हो रहा है—'वह' स्वयं उन्हें बुला रहा है कि आओ अपनी जन्म-जन्म की साध पूरी करो, अपने भूखे-प्यासे प्राणों को जुड़ाओ–तो वे कैसे अपने को सँभाल सकतीं? यही तो उनकी एकमात्र साध थी, एकमात्र आकांक्षा थी। हरि ने स्वयं अपार-अहैतुकी दया करके उन्हें अपनाया, अपने रास के रस में सराबोर कर उन्हे सदा के लिए निहाल कर दिया, धन्य धन्य कर दिया।

श्याम ने मुरली मधुर बजाई।
सुनत टेर तनु सुधि बिसारि सब गोपबालिका धाईं॥
लहगा ओढ़ि, ओढ़ना पहिरे कचुकि भूलि पराई।
नकबेसर डारे स्रवनन महँ, अद्भुत साज सजाई॥
धेनु सकल तृन चरन बिसार्‌यो ठाढ़ी स्रवन लगाई।
बछरन के थन रहे मुखन महँ, सो पयपान भुलाई॥
पसु-पच्छी जहँ तहँ रहे ठाढे, मानो चित्र लिखाई।
पेड पहाड प्रेमबस डोले, जड़ चेतनता आई॥
कालिन्दी प्रवाह नहिं चाल्यो जलचर सुधि बिसराई।
ससि की गति अवरुद्ध रहे, नभ देव बिमानन छाई॥
धन्य बाँस की बनी मुरलिया बडो पुन्य करि आई।
सुर मुनि दुर्लभ रुचिर वदन नित, राखत स्याम लगाई॥

उसी 'मधु' का गीत उपनिषद् गाते हैं, गाते-गाते अघाते नहीं—

' मधु वाता ऋतायये। मधु क्षरन्ति सिन्धवः। मध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। मधु नक्तमुतोषवः। मधुमत्पार्थिव रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता। मधुमान्नो वनस्पतिः। मधुमानस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः।

उसी मूल मिलन-मधु का अमृत पवन में है, नदियों में है, वनस्पतियो में है, रात्रि मे है, प्रभात में है, सन्ध्या में है। आकाश में है, औषधियों में है, सूर्य में है। वही माधुर्य हमारी वाणी में हो, मन प्राण में हो।

आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व वृन्दावन में जो रास हुआ वह उसी नित्य-निरन्तर होने वाले रास का प्राकट्यमात्र था जो समय पाकर अन्तर्हित हो गया। हमारी स्थूल आँखों से वह भले ही ओझल हो गया परन्तु वह तो सृष्टि के आदि से होता आ रहा है—सदैव होता चलेगा। सृष्टि के प्राणों में जो मूल-स्पन्दन है वह उस रास के कारण ही। रास एक क्षण के लिये भी रुका कि सृष्टि का प्रवाह रुका। दुनिया उसी पर तो जी रही है, उसी पर चल रही है। हम इसी आशा में तो जी रहे हैं कि एक दिन आयेगा जब पुनः हमारी इन आँखों के सामने वृन्दावन का वही रास पुन छिडेगा। समस्त संसार इसी विश्वास में चल रहा है, नहीं तो कभी न इसकी 'इति' हो गयी होती।

'सूत्रे मणिगणा इव' हम सभी उस परम दिव्य रास में गुँथे हुए हैं। हमारी आत्मा मे जो रति-आनन्द है स्पर्श-सुख है, वह उसी मूल रास की लहर है। सभी आत्माओं में बस वही

'एक' चराचर का पति रमण कर रहा है। वही हमारा एकमात्र गति, भर्त्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण और सुहृद् है। 'पुरुष' तो केवल वही एक है, शेष सब कुछ उसकी 'भोग्या' है। मीरा ने वृन्दावन मे जीव गोसाईं से जो कुछ कहा था उसका अनुभव प्रायः प्रत्येक प्राणी करता है, पर कहने का साहस नहीं करता; उसे अपना सत्यरूप प्रकट करने मे लज्जा आती है, सकोच होता है। मीरा के लिये ही क्यों, समस्त प्राणियों के लिये ही यह सिद्ध है कि कृष्ण के सिवा कोई पुरुष है ही नहीं, केवल मात्र श्रीकृष्ण पुरुष हैं हम सभी उसी एक की 'प्रकृति' है। जिस क्षण हमारा यह अनुभव तीव्र और व्यापक हो जाता है, जब हम अपनी आत्मा के सत्य स्वरूप में पहुँचते हैं और वहाँ स्थित होकर सृष्टि पर दृष्टि डालते है तो सनातन रासधारा की कुछ झलक मिलती है। इसे ही 'आत्मरमण' अथवा 'आत्मरति' कहते है। आत्मा का आत्मा में रमण—प्राणेश्वर कृष्ण का राधारूपिणी आत्मा मे रमण यही है। यही 'भूमा' का आनन्द है, यही 'रसो वै सः' है। यही एकमात्र रस है। यही चन्दन और पानी का संयोग है—जिसकी सुगन्धि, जिसकी वास अङ्ग-अङ्ग में, विश्व के कण-कण में समायी हुई है। यही दीपक और बाती का संयोग है जिसका प्रकाश, जिसकी 'जोत' चराचर को दिन-रात जग-मग किये हुए हैं।

यह आनन्द, यह सुगन्धि, यह ज्योति हम सभी के हृदय मे छिपी हुई है। मिलन तो सर्वत्र हो रहा है—'सब घट हौं विहरौं।'

'सब घट मेरा साइयां, सूनी सेज न कोय।' आत्मा की कोई भी सेज सूनी नहीं है। 'वह' सब मे विहर रहा है, रमण कर रहा है। सर्वत्र रास छिडा हुआ है।

ऐसे पिये जान न दीजे हो।
चलो, री सखी! मिलि राखिये, नैनन रस पीजै हो।
श्याम सलोनो सावरो मुख देखत जीजै हो॥
जोइ जोइ भेष सों हरि मिलें, सोइ सोइ कीजे हो।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर वडभागन रीजै हो॥

जहाँ दृष्टि भीतर फिरी कि भीतर के रूप पर वह निछावर हो जाती है। वहाँ का आनन्द, वहाँ की शोभा चुपके-चुपके पीते रहने की ही है। ऐसे 'पिय' को पाकर भला कोई क्यों छोडे? छोड़ कर जी ही कैसे सकेगा? वह तो प्राणों का प्राण, जीवन का आधार है, हृदय का वल्लभ है, प्राणाराम, प्राण-वल्लभ है। उसी की प्राप्ति के लिये तो सारी विकलता, सारा उद्वेग है। प्रभु की अतल शीतल अमृत छाया में जाकर फिर संसार के पाप-ताप में जलने के लिये कोई क्यों आवे? वहाँ तो वस गुप-चुप रस पीते रहना है, ससार की ओर से आँखें मूँद कर। उसीको पाने के लिये, उसी में मिलने के लिये तो ससार में अनेक नाते जोड रखे थे—पर सभी नाते जहाँ एक साथ और दिव्य भाव मे पूर्ण हो रहे हों उसे क्यो छोड़ा जाय, कैसे छोड़ा जाय, छोडते बनेगा ही क्यों? वही हमारा एकमात्र सच्चा 'अपना' है, किसी भी वस्तु से प्रिय है। वह तो स्वयं मेरी

आत्मा का आत्मा है, मेरा 'मैं' है अतएव वह प्रिय से प्रिय वस्तु से भी अधिक प्रिय और सन्निकट है। 'उस' प्रियतम से बढ़कर है ही कौन ? बस 'जोइ जोइ भेष सों हरि मिलै सोइ कीजै हो !' जिस प्रकार हरि से मिलन हो वही करना चाहिये।

मैत्रेयी को समझाते हुए याज्ञवल्क्य ने भी तो यही कहा था 'अरी मैत्रेयी ! सब के लिये सब प्यारे नहीं होते, आत्मा के लिये ही सब प्यारे होते हैं।' उस परम सम्बन्ध की मधुरता का आभास ही इन संसारिक सम्बन्धों मे है और इसीलिये ये प्रिय लगते हैं—

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रिय भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रिय भवति।

उस परमानन्द की प्यास नचिकेता के हृदय में जग चुकी थी, इसीलिये यम के सारे प्रलोभनों की ओर उसने आँख तक न फेरी। अल्प का सुख उसे आकृष्ट न कर सका। वह तो अक्षय आनन्द की खोज मे था। संसार की कोई भी वस्तु, कोई भी वैभव उसे मुग्ध कैसे कर सकता ? हम तो परमानन्द से उपजे हैं, आनन्द से ही जी रहे हैं और प्रतिक्षण उस दिव्य आनन्द में ही प्रवेश कर रहे हैं। आनन्द के इस परम पारावार मे हम उभचुभ हो रहे हैं, चारों ओर से उसी के द्वारा आवेष्टित हैं। उसी में हम तैर रहे हैं, केलि कर रहे हैं, स्वच्छन्द विचरण कर रहे हैं—ठीक जैसे मछली जल मे।

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्द प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। (तैत्ति० ३।६)

या वै भूमा तत्सुख नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखम्। भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः। (छान्दो०।२३।१)

रसो वै सः। रस ँ ह्येवाय लब्ध्वानन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयति। (तैत्ति० २।७)

आनन्द से ही निश्चय ये प्राणी उत्पन्न होते हैं। आनन्द से ही उत्पन्न हुए जीते हैं और अन्त में आनन्द में ही प्रवेश कर जाते हैं।

जो भूमा यानी महान् निरतिशय है, वही सुख है। अल्प में सुख नहीं है, भूमा ही सुखरूप है। भूमा ही तुझको जानना चाहिये।

वह निश्चय रस है, इस रस को पाकर ही आनन्दवाला होता है, जो हृदयाकाश में यह आनन्द न हो तो कौन श्वास ले, कौन प्रश्वास ले? यही आनन्द देता है। इस आनन्द की मात्रा से ही अन्य प्राणी जीते हैं।

उस मूल आनन्द के कारण ही समस्त प्राणी श्वास-प्रश्वास ले रहे हैं। वह आनन्द सर्वत्र छाया हुआ है। वही वह केवल है—जैसे और कुछ हो ही नहीं। कण-कण उस आनन्द में भिना हुआ है। सर्वलोकमहेश्वर जल मे रस बनकर, सूर्य-चन्द्र में प्रकाश बनकर, पृथ्वी मे गन्ध बनकर, आकाश में शब्द

बनकर, वायु में वेग बनकर—और तो और 'मृत्युः सर्वहरश्चाहम्' जीवन में मृत्यु बनकर हमारे भीतर-बाहर मॅडरा रहा है। उसके अंग तो सदा अनावृत हैं, वह तो सदा-सदैव मिलने के लिये बाँहें फैलाये खड़ा है। आवरण तो हमने स्वयं अपने ऊपर डाल रक्खा है। हम स्वयं उसकी आँखों से बचकर रहना चाहते हैं। हम स्वयं सोचते हैं कि इस मलिन वेश को लेकर उसके पास क्या जायँ? परन्तु हमारा उदार हरि तो हमें हर रूप में अङ्गीकार करने के लिये व्याकुल है। वह कहता है—अरे, ये शृङ्गार किसलिये? आओ, जैसे भी हो, आओ—तुममें अपना आनन्द ढालूँ, तुम्हे अपना प्रेम पिलाऊँ, तुम्हें अपने आलिङ्गन के मधु से नहला दूँ—

Come as you are, do not loiter over the toilet. If your braided hair has loosened, if the parting of your hair be not straight, if the ribbon of your bodice be not fastened, do not mind Come as you are, do not loiter over the toilet.

Come with quick steps over the grass In vain you light the toilet lamp, it flickers and goes out in the wind Who can know that your eyes have not been touched with lamp black. If the wreath bo not woven who cares? The sky is overcast with clouds it is late, come as you are, do not loiter over the toilet —*Tagore*

'आमन्त्रण' के इन प्यार भरे आकुल शब्दों को सुनकर हृदय का रेशा-रेशा प्रेम में भींग जाता है, प्राणों की कली खिल उठती है और उसकी एक-एक पंखुड़ी पर प्रभु की सॉवरी मूर्त्ति की आभा पड़ने लगती है। लज्जा छोड़कर, आवरण हटाकर हाहाकार के साथ प्राण उसके चरणों मे दौड़ते हैं। जो अपना सब से प्रिय है उससे अब तक इतना दुराव, इतनी बेरुखी! हृदयका नग्न रूप, हमारे जीवन के प्रत्येक पहलू का नग्न रूप उसके सामने आता है और वह प्रेमभरी दृष्टि से मुसकरा कर इसकी ओर निहारता है। आत्मा का यही अभिसार है, यही हरिचरणनुसरण है, यही साजन के घर जाना है।

करि सिंगार तापहँ का जाऊँ ? ओही देखउँ ठाँवहिं ठाऊँ ॥

प्रभु के साथ हमारे परिणय, की यही मङ्गल-वेला है, इसी पावन महूर्त्त मे हरि हमारा पाणि-ग्रहण करते हैं। इसी शुभ घड़ी में उनका हमारे साथ 'ग्रन्थिबन्धन' होता है। हम उनके रंग में रँगकर, सर्वथा उनका ही होकर गा उठते हैं—

मैं अपने सैयाँ सँग साँची।
अब काहे की लाज सजनी परगट है नाची ॥

कौन जतन बिनती करिये ?

हृदय बैठ जाता है, निराशा घिर आती है और प्राण सूखने लगते हैं, जब अपनी करनी पर कभी दृष्टि जाती है। दुनिया की वाह्-वाह् में फूला-फूला फिरता हूँ। ऊपरी वेश को देखकर भोले-भाले लोग ठगे जाते हैं। किसी को ठीक-ठीक दूसरे को पहचानने के लिये समय ही कहाँ है? बस ऊपरी तड़क-भड़क अथवा सादगी से ही हम दूसरों के चरित्र का अनुमान कर सन्तोष कर लेते हैं। लोग कितने धोखे मे हैं। भीतर का घृणित लोक और उसकी दारुण पापवासना, उफ! घोर नरक से भी भयङ्कर है। उस पर आडम्बर, सादगी और साधुता की चादर डाले संसार की दृष्टि में, लोगों की नजर में 'भला' कहलाकर मन कितना प्रसन्न होता है? कितना

सन्तुष्ट होता हूँ! हूँ चाहे जैसा भी, परन्तु लोग भला समझते रहें, नेक कहते रहे, साधु मानते रहें—बस इसी में बाग-बाग हो जाता हूँ। परन्तु एक बार, एक क्षण के लिये भी चादर का पट हटाकर जब हृदय की नग्न तस्वीर को देखता हूँ, अपनी त्रुटियों, पापों, अपराधों और अनाचारों को देखता हूँ तो ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसे नारकीय जीवन से तो जीवन का न रहना ही श्रेयकर है। परन्तु इस जीवन का मोह भी तो वहुत प्रगाढ़ है और इसी मोह मे ही इस जीवन की लहर चल रही है।

जब तक वृत्ति बहिर्मुखी रहती है, मन संसार की प्रशंसा पर अपने को तौलता है, तबतक तो सुख-ही-सुख है, परन्तु हाय! जब अपने भीतर के संसार को देखता हूँ, जब अपनी पतनशील वृत्तियों पर दृष्टि डालता हूँ तो लज्जा और ग्लानि मे पड़ जाता हूँ। दुनिया को भले ही धोखा दे सकूँ, परन्तु अपने अन्तर्यामी प्रभु की आँखों में कैसे धूल झोंक सकूँगा? देखता हूँ, प्रभु के देखते-देखते घोर-से-घोर जघन्य पाप करते सकुचाता नहीं। पाप का भूत जब सिर पर सवार हो जाता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह ईश्वर को ही निगल गया, परमात्मा को ही पचा गया। पाप के अन्धकार में प्रभु का प्रकाश कहाँ विलीन हो जाता है? लीलामय! पाप के हाथ सौंप कर आप कहाँ छिप जाते हो? छिप जाने पर भी हृदय में यह दृढ़ निश्चय क्यो नही करा जाते कि तुम छिप कर हमारी सारी करतूत देख रहे हो। प्रभो! पाप करते समय तो तुम्हारे अस्तित्व तक का

भान नहीं रहता। पापों के नरक मे छोड़कर तुम कहाँ चले जाते हो? कलङ्क का टीका सिर पर लगा कर अब तो तुम्हारे सम्मुख आने मे भी लज्जा लगती है! जो कुछ चोरी चुप्पे लुक-छिप कर मैंने किया है वह सब तुम्हारी आँखों के सामने हुआ, तुम्हारे देखते हुए ही हुआ—जब यह स्मरण होता है तो कट जाता हूँ, ग्लानि में डूब जाता हूँ। क्षमा भी कैसे माँगूँ, कौन-सा मुँह लेकर तुम्हारे सम्मुख आऊँ?

का मुख लै विनती करौं, लाज लगत है मोहि।
तोहि देखत औगुन करौं, कैसे भावौं तोहि॥

जिस दिन तुम्हारी सत्ता मे विश्वास हो जायगा, जिस क्षण तुम्हारी सर्वान्तर्यामी शक्ति मे हृदय जम जायगा—उसी क्षण पापों से पिण्ड छूट जायगा; यह मैं जानता हूँ और इसी-लिये तो आत्मा में कोटि-कोटि वृश्चिक-दंशन की पीड़ा होती है कि मैंने विषयों की सेवा में परमात्मा का ही विस्मरण कर दिया। हृदय की स्वाभाविक गति, मन की वास्तविक दौड़ विषयों की ओर है। विषयों के सेवन में ही अमृत-रस मिलता है! तुम्हारी ओर तो ताकने की भी इच्छा नहीं होती! घड़ी-आध-घड़ी संसार को भुलावे में डालने के लिये, जब आँखे मूँद कर तुम्हारे चिन्तन-ध्यान में लगता हूँ तो उसी समय—मानो पहले ही से कोई षड्यन्त्र रचा गया हो—संसार के सारे झमेले, सारे विषय और विकार एक साथ ही सामने खडे हो जाते हैं। हाथ जोडता हूँ, अनुनय-विनय करता हूँ, निहोरा

सन्तुष्ट होता हूँ! हूँ चाहे जैसा भी, परन्तु लोग भला समझते रहें, नेक कहते रहें, साधु मानते रहें—बस 'इसी में बाग-बाग हो जाता हूँ। परन्तु एक बार, एक क्षण के लिये भी चादर का पट हटाकर जब हृदय की नग्न तस्वीर को देखता हूँ, अपनी त्रुटियों, पापों, अपराधों और अनाचारों को देखता हूँ तो ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसे नारकीय जीवन से तो जीवन का न रहना ही श्रेयस्कर है। परन्तु इस जीवन का मोह भी तो बहुत प्रगाढ़ है और इसी मोह में ही इस जीवन की लहर चल रही है।

जब तक वृत्ति बहिर्मुखी रहती है, मन संसार की प्रशंसा पर अपने को तौलता है, तबतक तो सुख-ही-सुख है, परन्तु हाय! जब अपने भीतर के संसार को देखता हूँ, तब अपनी पतनशील वृत्तियों पर दृष्टि डालता हूँ तो लज्जा और ग्लानि में पड़ जाता हूँ। दुनिया को भले ही धोखा दे सकूँ, परन्तु अपने अन्तर्यामी प्रभु की आँखों में कैसे धूल झोंक सकूँगा? देखता हूँ, प्रभु के देखते-देखते घोर-से-घोर जघन्य पाप करते सकुचाता नहीं। पाप का भूत जब सिर पर सवार हो जाता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह ईश्वर को ही निगल गया, परमात्मा को ही पचा गया। पाप के अन्धकार में प्रभु का प्रकाश कहाँ विलीन हो जाता है? लीलामय! पाप के हाथ सौंप कर आप कहाँ छिप जाते हो? छिप जाने पर भी हृदय में यह दृढ़ निश्चय क्यों नहीं करा जाते कि तुम छिप कर हमारी सारी करतूत देख रहे हो। प्रभो! पाप करते समय तो तुम्हारे अस्तित्व तक का

भान नहीं रहता। पापों के नरक में छोड़कर तुम कहाँ चले जाते हो? कलङ्क का टीका सिर पर लगा कर अब तो तुम्हारे सम्मुख आने में भी लज्जा लगती है! जो कुछ चोरी चुप्पे लुक-छिप कर मैंने किया है वह सब तुम्हारी आँखों के सामने हुआ, तुम्हारे देखते हुए ही हुआ—जब यह स्मरण होता है तो कट जाता हूँ, ग्लानि में डूब जाता हूँ। क्षमा भी कैसे माँगूँ, कौन-सा मुँह लेकर तुम्हारे सम्मुख आऊँ?

का मुख लै विनती करौं, लाज लगत है मोहि।
तोहि देखत औगुन करौं, कैसे भावौं तोहि॥

जिस दिन तुम्हारी सत्ता में विश्वास हो जायगा, जिस क्षण तुम्हारी सर्वान्तर्यामी शक्ति में हृदय जम जायगा—उसी क्षण पापों से पिण्ड छूट जायगा, यह मैं जानता हूँ और इसी-लिये तो आत्मा में कोटि-कोटि वृश्चिक-दंशन की पीड़ा होती है कि मैंने विषयों की सेवा में परमात्मा का ही विस्मरण कर दिया। हृदय की स्वाभाविक गति, मन की वास्तविक दौड़ विषयों की ओर है। विषयों के सेवन में ही अमृत-रस मिलता है! तुम्हारी ओर तो ताकने की भी इच्छा नहीं होती! घड़ी-आध-घड़ी संसार को भुलावे में डालने के लिये, जब आँखें मूँद कर तुम्हारे चिन्तन-ध्यान में लगता हूँ तो उसी समय—मानो पहले ही से कोई षड्यन्त्र रचा गया हो—संसार के सारे झमेले, सारे विषय और विकार एक साथ ही सामने खड़े हो जाते हैं। हाथ जोड़ता हूँ, अनुनय-विनय करता हूँ, निहोरा

यह सब देखता हूँ, समझता भी हूँ फिर भी आँखें खुलती ही नहीं। हृदय का वज्र कपाट कभी खुलता ही नहीं। विषयों से ऐसा चिपटा हुआ हूँ कि कभी दूसरी ओर देखने का न अवकाश ही है न चिन्ता ही-बस, रात-दिन एक ही धुन! एक ही व्रत!!

हृदय का दर्पण निर्मल हो और वह प्रभु की ओर मुँह किये हो, तभी तो प्रभु की छवि उसमें उतर सकती है, तभी तो 'जीवन-धन' की झाँकी हृदय के मन्दिर में मिल सकती है। सो तो ऐ मेरे प्राणसखा! तुम सब कुछ जानते ही हो कि यहाँ हृदय की कैसी कुटिल गति है। ऐसा भी तो नहीं होता कि अपने पापों की पोट को लेकर तुम्हारे चरणों में गिरूँ—अपने सारे कलङ्क-दोष को लिये दिये आतुर-विह्वल होकर तुम्हारे पाद-पद्मों पर आर्त्त होकर पड जाऊँ। एक क्षण के लिये भी तो तुम्हारी ओर मुँह न कर पाया। एक पल के लिये भी छल छोड़कर, निष्कपटभाव से अपने स्वामी, अपने प्राणाधार की शरण मे नहीं गया। तुम तो बार-बार मेरे पथ मे मुझे उबारने के लिये आ जाते हो, परन्तु मैं राह काटकर मुख फेर लेता हूँ। बार-बार मन को समझाता हूँ, ढाढस देता हूँ—रे मन! प्रभु के चरणों की शरण मे चल, रात-दिन संसार के हाहाकार को देखता रहता है फिर भी इससे इतना चिपटा है कि एक क्षण भी छोडना नहीं चाहता। उस समय तो ऐसा प्रतीत होता है कि मन मान गया और अब विषयों की ओर नहीं जायगा—परन्तु जहाँ मौका लगा कि चट······

मेरो कन हरिजू हठ न तजे।
निसदिन नाथ देउँ सिख बहु विधि करत सुभाव निजै॥

और अब ससार-सागर मे—

नीर अति गंभीर माया लोभ लहर तिरंग।
लिए जात अगाध जल में गहे ग्राह अनंग॥
मीन इद्रिय अतिहि काटति मोर अघ सिर भार।
पग न इत उत धरन पावत उरझि मोह सिवार॥
काम क्रोध समेत तृष्णा पवन अति झकझोर।
नाहिं चितवन देत तिय सुत नाम नौका ओर॥
थक्यो वीच विहाल विहवल सुनो करुणामूल।
स्याम! भुज गहि काढ़ि लीजे 'सूर' ब्रज के कूल॥

अथाह जल है, माया, लोभ, मोह की तिहरी लहरें आकाश को चूम रही हैं—कामरूपी ग्राह पकडे, खींचे लिये जा रहा है। इन्द्रियॉरूपी मछलियॉ जोर से काट रही हैं और सिर पर पाप की भारी गठरी है। मोह का सिवार पैर मे उलझकर मुझे आगे बढने नहीं देता! काम, क्रोध और तृष्णा की भयंकर ऑधी झकझोर रही है। पुत्र-कलत्र प्रभु के नामरूपी नौका की ओर देखने का अवसर ही नहीं देते। हे प्रभो! मैं इस अथाह सागर के बीच मे ही विहाल-विह्वल हूँ। अब डूबा, तब डूबा। तुम करुणा के मूल हो, हाथ बढाकर इस अथाह सागर में डूबने से मुझे बचा लो!

—०ॐ०—

ही, एकमात्र तुम्हारी ही लाज हूँ! संसार की आँखें मेरे नग्नरूप पर पड़ें यह तुम कैसे सह सकोगे प्राण!

तुम्हारे देखते-देखते संसार मेरे भीतर पैठकर नग्न ताण्डव कर रहा है, मेरा चीर लूट रहा है—यह कैसे विश्वास करूँ? संसार के हाथों में हरा जा रहा हूँ, यह तो प्रतिपल देख ही रहा हूँ। वासना की आँधी आती है और मुझे उड़ा ले जाती है। भीतर मन में ऐसे-ऐसे जघन्य पाप घट रहे हैं कि इच्छा होती है तुमसे मुँह छिपा लूँ। पर मुँह छिपाकर कहाँ जाऊँगा? चारों ओर से तुम्ही घेरे खड़े हो। तो फिर क्या यह मान लूँ कि तुम मेरी ओर देख ही नहीं रहे हो, क्या यह समझ लूँ कि मेरी पतवार तुमने छोड़ दी है और मेरी नाव लहरों की मौज और प्रवाह पर बही जा रही है! परन्तु तुम तो प्रणतपाल हो प्रभो! एक बार भी जिसे अपनाया, सदा के लिये उसे 'अपना' बना लिया। तुम मेरी बाँह कैसे छोड़ोगे? मेरी नाव क्यों बहने दोगे? अरे! मैं और मेरी नाव यह सब कुछ तो तुम्हारे करुणासागर में ही तैर रहे हैं। तुम्हारी गोद में ही सारी सृष्टि, अनन्त ब्रह्माण्ड, नन्हे-नन्हे बच्चा की भाँति खेल रहे हैं! समस्त चराचर तुम्हारी अपनी सन्तान है, इन्हें बिलखने क्यों दोगे? समस्त प्राणी तुम्हारे उद्यान के पुष्प हैं, इन्हें मुरझाने क्यों दोगे?

प्रतिपल, प्रतिक्षण तुम मेरी ओर देख रहे हो, मैं तुम्हारी आँखें बचाकर मुँह फेर लेता हूँ। पापों से इतनी प्रगाढ़ मैत्री

मेरी क्यों हो गयी प्रभो! उनमें इतनी आसक्ति क्यों हो गयी कि उनसे एक क्षण का भी वियोग असह्य और दारुण हो उठता है। हाँ, मुँह फेर कर, आँखें बचा कर, फिर ज्यों ही पाप-पङ्क में डूबने के लिये आमादा होता हूँ कि त्यों ही तुम्हारी मञ्जुल, मङ्गल, मनोहर मूर्ति सामने हँसती हुई आ जाती है। मैं लजा जाता हूँ। अरे 'वह' देख रहा था! पर सच मानो, यह भाव एक क्षण भी ठहर नहीं पाता कि पुनः वासनाओं के लुभावने-ललचीले बाजार सामने अपनी माया पसार देते हैं और मैं पुनः अतृप्त भाव से उनमें रमने लगता हूँ!

यही चित्त की स्थिति है, यही हृदय का चित्र है, यही भीतर का संसार है। तुम भी हो, विषय भी हैं; आग भी है, पानी भी। प्रकाश भी है, अन्धकार भी! यह भी स्वीकार करने में संकोच नहीं कि तुम्हारी अपेक्षा संसार का ही प्रभुत्व अधिक है, प्रकाश की अपेक्षा तमतोम का ही साम्राज्य अधिक है। तुम्हारे रहते, तुम्हारे देखते यह दशा है, यह और भी लज्जा की बात है।

मम हृदय-भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा॥
अति कठिन करहिं बरजोरा। मानहिं नहिं विनय निहोरा॥
तम, मोह, लोभ अहकारा। मद, क्रोध, बोध-रिपु मारा॥
अति करहिं उपद्रव नाथा। मरदहिं मोहि जानि अनाथा॥
मैं एक, अमित बटपारा। कोउ सुनै न मोर पुकारा॥
मागेहु नहि नाथ। उबारा। रघुनायक, करहु सँभारा॥

मेरा हृदय तुम्हारा मन्दिर है, उसमें चोरों ने घर कर रक्खा है। बड़ा उत्पात मचा रहे हैं। सदा जबरदस्ती ही करते रहते हैं। मेरी विनती-निहोरा कुछ भी नहीं मानते। लाख मिन्नते करता हूँ, हाथ जोड़ता हूँ कि मेरा पल्ला छोड़ दो, पर वे एक भी नहीं सुनते! अज्ञान, मोह, लोभ, अहंकार, मद, क्रोध और काम—ये सब प्रबल हैं और मनमानी कर रहे हैं। मुझे अनाथ जानकर कुचल डालते हैं। मैं सर्वथा अकेला हूँ और ये शत्रु अपार हैं। कोई मेरी पुकार तक नहीं सुनता। भागकर भी इनसे पिण्ड नहीं छुडाया जा सकता! ये सदैव मेरे पीछे लगे ही रहते हैं। प्रभो! दीनबन्धो! मेरी रक्षा करो, इनसे मुझे बचाओ, नहीं तो मैं लुटा, मेरा सर्वस्व गया!
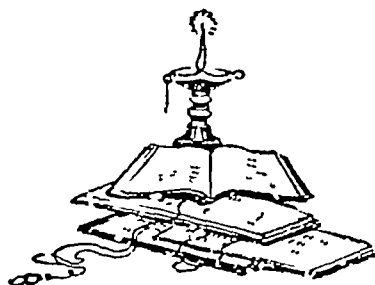
आशिक होकर सोना क्या रे !

हसीनाने जहाँ उजड़ी हुई महफिल में रहते हैं।
जिन्हें बरबाद करते हैं, उन्ही के दिल में रहते हैं॥

ऊँचे, बहुत ऊँचे पर्वत-शिखर पर प्रीतम की अटारी है, ऊँची गैल है, राह रपटीली है, पैरों में जंजीर बँधी हुई है! बीच में यह संसार अपना भयावना रूप लेकर खड़ा है! निर्जन अंधेरी रात है, सूना पथ है। तारों का गजरा पहने यामिनी 'प्रीतम' की मधुभरी छवि का स्मरण दिला रही है! हमारे-तुम्हारे बीच में यह 'ससार' आ पड़ा है, मिलना हो भी तो कैसे !

प्रीतम बसे पहाड पर, मैं जमुना के त ।
अब तो मिलना कठिन है, पॉव पड़ी जंजीर॥

अपने 'सर्वस्व' से मिलने के लिये प्राण तड़प रहे हैं, हृदय विह्वल है। और बीच की यह दूरी ? हाय! यह तो मिटाये नहीं मिटती, बीच का संसार तो प्रतिदिन अपने विस्तार को असीम बनाता जा रहा है और इसका थाह पाना कठिन ही नहीं, असम्भव प्रतीत होता है। जहाँ एक पल भी कोटि-कोटि युग के समान बीत रहे हों, जहाँ बीच का 'हार' भी असह्य हो रहा है—वहाँ यह अनन्त विरह और अमर प्रतीक्षा ॥

Ornaments would mar our Union They would come between Thee and me, their jing ling would drown Thy whispers.

'आभूषण हमारे-तुम्हारे मिलन में बाधक सिद्ध होंगे। वे तुम्हारे और मेरे बीच आ जायँगे। उनकी झुनझुनाहट से तुम्हारे धीमे शब्द सुन न पड़ेंगे।' इस स्थिति में जब हार भी मिलन का बहुत असह्य अवरोधक दीखता है, और देखे बिना प्राणों के लाले पड़े हैं—पता नहीं चलता, क्या किया जाय, क्या नहीं ?

यह तो तय है कि संसार को मिटाये बिना, जगत् को मारे विना 'प्रीतम' के दर्शन नहीं हो सकते। जब तक आँखें खुलने पर सामने संसार ही दीख पड़ता है, तब तक तो समझ लेना चाहिये कि अभी हमारा 'प्रेम' सच्चा नहीं है। प्रेम तो हमारा तभी सच्चा और खरा समझा जायगा जब जहाँ भी, जिस समय भी आँखें खुलें या बन्द रहें सामने 'साजन' की ही

मधुर छवि झलक उठे ! हमारा यह मिलन अविच्छिन्न और अनवरत हो, तभी हमारी लगन-लगन है। मजनूं हर जगह अपनी प्राणप्यारी लैला को ही देखा करता था—उसके लिये लैला के सिवा संसार में कोई वस्तु थी ही नहीं। ठीक इसी प्रकार, भक्त साधक के लिये भी 'प्राणनाथ' के अतिरिक्त कोई भी वस्तु है ही नहीं। वह तो जो कुछ, जब कभी देखता है वह सब कुछ प्रभुमय होता है।

प्रेम-प्रीति की चुनरि हमारी जब चाहौं तब नाचो सहरवा।
तालाकुंजी हमें गुरु दीनी जब चाहौं तब खोलौं किवरवा॥

अब तो जब आँखें बन्द होती हैं तो हृदय के 'रंगमहल' में और जब आँखें खुलतीं हैं तो समस्त संसार के वृन्दावन में, बस 'प्राणवल्लभ-ही-प्राणवल्लभ' दीखते हैं। जब जी में आया, गर्दन झुका कर दिल के आईने में दिलवर यार की तस्वीर देख ली ! परन्तु इसके पहले की स्थिति तो बड़ी ही असह्य और कठोर प्रतीत होती है। न प्राण ही निकलते हैं, न 'प्रीतम' के दर्शन ही होते हैं। इस असमञ्जस की स्थिति का एक बहुत ही सुन्दर चित्र देखिये—

अजहूं न निकसे प्रान कठोर।
दरसन बिना बहुत दिन बीते, सुन्दर प्रीतम मोर॥
चारि पहर चारो युग बीते, रैनि गँवाई भोर।
अवधि गई अजहूं नहिं आये, कतहूं रहे चितचोर॥

कबहूँ नैन निरखि नहिं देखे, मारग चितवत चोर ।
'दादू' ऐसे आतुर बिरहिनि, जैसे चंद-चकोर ॥

जन्म-जन्म से, युग युग से मैं तुम्हें ढूँढ़ता आया हूँ, परन्तु हाय ! बीच का पर्दा न हटा पाया और इसीलिये तुम्हारे दर्शन न हो सके ! एक बार भी तो ऐसा नहीं हुआ कि भर आँख अपने 'प्राणनाथ' को देख लेता । एक क्षण के लिये भी घूंघट उठा कर 'सैयाँ' की सलोनी सूरत को देख न पाया ! जिसमें मिटने के लिये प्राण तड़प रहे हैं उसे काश एक बार देख पाता !! बड़ी विचित्र पहेली है । देखे बिना रहा जाता नहीं और देखने मे आता नहीं । इसी असमञ्जस में प्राण अँटके हैं । 'वह' तो 'शीशमहल' में बैठा-बैठा मेरी ओर निहार रहा है परन्तु मेरी इन अभागिन आँखों के लिये तो 'वह' 'पर्दानशी' ही बना हुआ है—

तू मोहिं देखै, तोहिं न देखू यह मति सब बुधि खोई ।
सब घट अन्तर रमसि निरन्तर, मैं देखन नहिं जाना ।
गुन सब तोर, मोर सब अवगुन कृत उपकार न माना ॥
मैं तैं तोरि मोरि असमझि सों, कैसे करि निस्तारा ।
कह रैदास कृष्ण करुनामय, जै जै जगत-अधारा ॥

यह गुत्थी भी तो 'उसे' ही सुलझानी है । मैं-मोर, तू-तोर का पर्दा तो उसके ही हटाये हटेगा भी । और जब यह गुत्थी सुलझ गयी तो फिर 'वही-वह' भीतर-बाहर एकरूप में, और सभी रूपों में दीख पड़ेगा ! सब कुछ उसी में और वही सब कुछ

में। उस स्थिति को 'सब घट हैं विहरौं' द्वारा प्रकट किया गया है। परन्तु वस्तुत: वह स्थिति व्यक्त की नहीं जा सकती ! नमक का पुतला समुद्र की थाह लेने चला था स्वयं उसी में हिरा गया—

हेरत-हेरत हे सखी ! मैं ही गई हिराय।

तथा—

लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गइ लाल॥

और साईं की लाली में स्वयं लाल हो चुकने पर तो कोई भी साधक वही कहेगा जो गुरु नानक ने कहा है—

काहे रे वन खोजन जाई।
सर्व-निवासी सदा अलेपा, तोही संग समाई॥
पुष्प-मध्य ज्यों वास वसत है, मुकुर माँहि जस छाई।
तैसे ही हरि बसैं निरंतर, घट ही खोजो भाई॥
बाहर भीतर एकै जानौ, यह गुरु ज्ञान बताई।
जन 'नानक' बिन आपा चीन्हें, मिटे न भ्रम की काई॥

उस समय तो यह समस्त संसार एक स्वच्छ निर्मल दर्पण की भाँति दीखेगा जिसमें प्रभु की मधुर परिछाई सर्वत्र दीखेगी। उस समय तो समस्त विश्व एक सुगन्धित पुष्प के समान प्रतीत होगा जिसकी खुशबू से समस्त चराचर मँह-मँह करता दृष्टिगोचर होगा। समस्त विश्व एक 'शीशमहल' के समान है, बीच में एक दिव्य प्रकाश है जिसके कारण समस्त विश्व जगमग-जगमग कर रहा है।

कन्या का गुडिये का खेल तभी तक चलता है जबतक 'प्रीतम' के दर्शन नहीं हुए होते। विवाह होते ही वह गुड़ियों के लिये और गुडिया उसके लिये अपरिचित हो जाती है। जब-तक असली पति से मिलना नहीं होता तभी तक नकली खेल चलता है। माँग में सिन्दूर पड़ा और 'ग्रन्थि-बन्धन' हुआ नहीं कि गुड़ियों का खेल बिसर जाता है; यह खेल जो सारे जीवन को अपने रस में डुबो देता है। 'ग्रन्थिबन्धन' ही जीवन' की सब पहेलियों, जीवन के समस्त व्यापारों को सदा के लिए रसमग्न कर देता है। इसके बाद तो नौका अपना रास्ता स्वयं पकड़ लेती है।

ठीक इसी प्रकार जब हमारा 'ग्रन्थि-बन्धन' हमारे प्रीतम के साथ हो जाता है तो संसार के अन्य व्यापार गुड़िये के खेल की भाँति नीरस प्रतीत होने लगते हैं। साईं का जब दर्शन हो जाता है तो फिर इन खेलों मे आनन्द या प्रीति कौन कहे, इनकी स्मृति भी नहीं रहती और उस समय तो बस—

प्रीतम छवि नैनन बसी, औ छवि कहाँ समाय।

आँखो में, हृदय में, प्राण में, रोम-रोम मे बस प्रीतम की ही छवि, प्रीतम की धुन छायी रहती है। उस समय संसार बस अपने साजन 'हरि' की परछांही के रूप में ही रह जाता है। संसार का 'संसारत्व' मिट जाता है। अपने 'राम' के नाते सभी कुछ सुहावना प्रतीत होने लगता है। सती के समान प्रभु मे अचल प्रेम हो जाता है और सब कुछ बस 'सियाराममय'

हो जाता है। संसार को मारने, जगत् को मिटाने का सब से यही सुन्दर और सरल तरीका है कि सब कुछ भगवान् में समर्पित कर दिया जाय, सब का सम्बन्ध 'हरि' से जोड़ दिया जाय। उस समय संसार नहीं रहता, केवल 'हरि' रह जाते हैं। -

यह न द्वैत है न अद्वैत। पत्नी के सम्मुख पति द्वैत और अद्वैत से परे का आनन्द लेकर आता है। उसमें द्वैत का आनन्द और अद्वैत की उपरामता धूप-छाँह की भाँति घुली-मिली रहती है। पत्नी का कोई निजी व्यक्तित्व नहीं होता, वह पति की अर्द्धाङ्गिनी बन जाती है, उसी में एकाकार हो जाती है। इस अर्थ में तो वह अद्वैत है। परन्तु पत्नी का धर्म पति को सुख पहुँचाना, उसके सुख सम्भोग को पूरा करना भी तो है। इस अर्थ में वह द्वैत है। इसे द्वैत की अद्वैतता और अद्वैत की द्वैतता कह सकते हैं। यही अचिन्त्य भेदाभेद की स्थिति है।

प्राणनाथ से जब हम इस प्रकार जुड़ गये, जब उनके चरणों में सर्वभावेन अपने को समर्पित कर दिया तो फिर अपने सुख-दु:ख की, अपने सुख भोग की, अपने आप की चिन्ता ही क्यों रह जाय? उस समय तो बस 'प्रीतम की अटारी' पर पौढने की ही एकमात्र कामना रहती है। उस समय बस जीवनधन के नाते ही संसार का चरखा भी खुशी-खुशी चलाना होता है। पत्नी करती तो है सब कुछ, खाती-पीती है; सोती-जागती है, वस्त्राभूषण पहनती है; शृङ्गार करती है,

कौन गली गये श्याम ?

बता दे सखि ! कौन गली गये श्याम ?

इस प्रश्न को, वेदना-मथित हृदय की इस कातर पुकार को सुनकर भी 'वह' अनसुनी कर देता है। भीतर जा छिपा है वह छलिया और द्वार बन्द कर लिया है। मेरा अपना हृदय ही आज अपना न रहा। उसे मैंने कब बुलाया था ? आज इतनी निठुरता के साथ मुझे ही मेरे घर से निकाल कर वह मालिक बन बैठा है और मेरी बेबसी पर मुसका रहा है। कहता हूँ, रोता हूँ, गिडगिड़ाता हूँ जरा-सा द्वार खोल दो मैं भीतर आ जाऊँ और फिर सदा के लिये भीतर से द्वार बन्द कर लेना। हृदय की गुफा में वह जा छिपा है और वहीं बैठा-बैठा कभी मुसकाता है, कभी अपने सुकोमल चरणों में बंधी पैंजनी बजा बजाकर नाचता है और कभी तिरछे खडे होकर शरारत भरी नजर से देखता हुआ अपनी वेणु में न जाने क्या क्या जादू गाने लगता है।

मैं बाहर खड़ा-खड़ा ज्वाला में, जगत् की भीषण ज्वाला में जल रहा हू, लू की लपटों में झुलस रहा हूँ और उस निठुर सुन्दर से बार-बार अभ्यर्थना कर रहा हूँ—ओ मेरे हृदय के भीतर बसने वाले जादूगर ! आज एक बार तो द्वार खोल दो और मुझे भीतर ले लो परन्तु, वह क्यों सुनने लगा ? वह तो स्वयं अपनी वेणु पर लट्टू हो रहा है—क्या गाता है वही समझे। कभी-कभी अपनी विजय पर इतरा कर जब वह प्राणों के

सघन कुंज में नाचने लगता है, एक साथ ही पैंजनी, करधनी और मुरली एक दिव्य लास्य मे बज उठती है, कुंचित केश-राशि हवा के झोंके में लहरा कर कभी कुण्डल को ढक लेती है और कभी बंशी को छू लेती है—उस समय, उस समय तो ऐसी इच्छा होती है कि वज्र के किवाड़ तोड़ कर भीतर समा जाऊँ और रोम-रोम, से प्राण-प्राण से उसकी इस दिव्य लीला को पीऊँ। परन्तु वह कपट कितना निठुर, उफ, कितना निठुर है ! हृदय में बैठा हुआ है और एक बार भेंट नही हो पाती—यह कैसी दारुण यातना, कितना कठोर अत्याचार है !

कैसे, किस राह से, कब से वह भीतर जा पैठा है यह कुछ समझ नहीं पाता। अपने आकर्षण का मधु पिला कर, मेरी समग्र चेतना को अपने नूपुरों के रुम-झुम में घुला कर, मेरे रोम-रोम को अपने रूप के अमृत में नहला कर, मेरे अनजान में 'वह' भीतर जा बैठा है। अर्धचेतना की अर्धविस्मृतदशा में जब मैं अपने भीतर उसके मधुर-मधुर स्पर्श का अनुभव कर रहा था—उसके स्निग्ध चरण तल मेरे अन्तरतम को अपने स्पर्श का दान देकर जब कृतकृत्य कर रहे थे—उस समय उसके चरणों के चुंबन का वरदान पाकर मैं उसके हाथ बेमोल बिक गया। मैंने कहा—ओ मेरे जन्म जन्म के अतिथि ! तुम बाहर क्या भींग रहे हो, भीतर आओ, मेरे हृदय के सिंहासन पर विराजो—मैं तुम्हारे लिये अपनी कुटिया खाली कर दूँगा। वह मेरी अल्हड़ता पर मुसकाया, दोनों चरण जब

भीतर रखे तो मैंने बड़ी आतुरता से कहा—यह सब कुछ तुम्हारा है, तुम अपना सँभालो! वह फिर मुसकाया! हृदय के द्वार पर खड़ा होकर मैंने कहा—तुम्हारे स्वच्छन्द विहार में मैं बाधा नहीं डालना चाहता। तुम-ही-तुम रह जाओ, यह मेरा सारा लोक-परलोक तुम्हारे चरणों में निछावर है, तुम इसमें सुख से बसो!

आज वह भीतर का एकछत्र सम्राट् बना बैठा है और अपनी विजय पर स्वय हँस रहा है। चर अचर सबका हृदय छीन कर वह स्वय हृदयहीन-सा निठुर कठोर बन गया है। एक पल के लिये भी द्वार नहीं खोलता—कहीं उसे कोई देख न ले! ऐसा पर्दा? ऐसा घना अवगुण्ठन? हृदय के बाहर, द्वार पर खडे-खडे भींगते हुए जब भीतर आने की याचना कर रहे थे—और बार-बार मेरी नॉ-नॉ सुन कर कुंठित-लज्जित हो रहे थे, उस समय क्यों न कठोर बने? आज मेरे प्राणों को अपनी माया के जादू से संज्ञा-हीन करके भीतर जा बैठे हो, एक बार तुम्हे भर ऑख देखने के लिए प्राण तडफड़ा रहे हैं और तुम पत्थर का हृदय लिये निठुर बने बैठे हो? तुम्हारी यह कैसी प्रवञ्चना है ओ सुन्दर मायावी! सब कुछ देखूँ, पर अपने ही हृदय के भीतर न झॉक सकूँ, यह कितनी दीनता है! कितना झीना आवरण है, जिससे छन-छनकर उसकी आभा लोक—लोकान्तर में छा रही है। परन्तु 'वह' दीखनहीं पाता, ऐसी ही उसकी माया है। कभी सुकोमल चरणों के तलवों की

प्यारी-प्यारी लाली प्राणों को चुरा ले जाती है, कभी पीत पट की फहरान। वह भीतर छिपकर अन्तःपुर से इतना प्रबल आकर्षण भरा, जादू भरा संकेत क्यों कर रहा है—बीन बजा कर चर-अचर सबको मोहे हुए है, सबको बुला रहा है। सभी समस्त लोक-परलोक उसके चरणों में निछावर होने के लिये विह्वल उत्कण्ठ उसके द्वार पर खडे हैं—सबके प्राण छटपटा रहे हैं। सबको अपने चरणों मे खींचकर वह छलिया कह रहा है—अभी नहीं, अभी नहीं, अभी द्वार नहीं खुलता। चराचर का हाहाकार उसकी एक मृदुल मुसकान के लिये ही तो है।

वह, देखो न, भीतर बैठा बैठा मुसका रहा है, कभी आँखों से इशारा करता है, कभी वेणु से। कह रहा है, संकेत दे रहा है, "भीतर चले आओ, अपने एक स्पर्श से तुम्हारे जन्म-जन्मान्तर की तपन बुझा दूँगा, तुम्हारे युग-युग की प्यास बुझा दूँगा—जो कहोगे वहीं करूँगा, बाहर-भीतर केवल मैं-ही-मैं रह कर तुम्हारे हृदय को जुड़ा दूँगा—तुम मुझ में और मैं तुम में समा जाऊँगा। तुम्हारे कहने पर अपना गीत सुनाऊँगा, तुम्हारे संकेत पर नाचूँगा। आओ भीतर चले आओ, हम दो ही इस एकान्त कुञ्ज में विचरें, अपनी मनमानी करें। तुम्हारे मस्तक को मैं सूँघूँ, तुम्हारे भूखे-प्यासे प्राणों को अपने आलिंगन का दान देकर सदा के लिये अपने में मिला लूँ।"

ऐसे हैं उसके छल भरे, प्रलोभन-भरे, आकर्षण भरे, जादू भरे वचन! कौन है जो इस पर बिक न जाय, कौन है जो

अपना लोक-परलोक भूलकर इस पर लुट न जाय। कैसी-कैसी मीठी बातें बनाकर वह अपने निकट बुलाता है, कैसे-कैसे सकेत देकर वह प्राणों को अपना किंकर बनाकर मनमानी नाच नचाता है। कभी कुछ कर देगा, कभी कुछ। कभी गायगा तो कभी नाचेगा। कभी राजा बनकर रूठ बैठेगा, मानो उसकी मुझ से कभी की मुलाकात ही नहीं है, मानो उसको मुझ से कुछ मतलब ही नहीं है—ऐसा मानो उसका मुझ से परिचय ही नहीं है, मानो उसने पहले किसी और के लिये वशी छेड़ी थी, मन्द-मन्द मुसकाकर किसी और को आमंत्रित किया था! कैसी निराली है उसकी छलना! बुलाता भी है, न आने पर बार-बार छेड़ता भी है और लोक का लाज, कुल-शील का भय अपने प्राणों का मान छोडकर जब पागल से दौड़े-दौड़े हम उसके चरण तल मे अपने हृदय की भेंट चढ़ाने आते हैं तो वह पता नहीं किस गुफा में जा छिपता है और भीतर से बोलता है—तुझे कब बुलाया था, यो आने के लिये कब संकेत किया था। तुम लौट जाओ, अपने पहले के संसार में लौट जाओ।

यह है उसका प्यार और दुतकार, दुतकार और फिर आमंत्रण। एक साथ ही निमंत्रण और तिरस्कार, तिरस्कार और फिर जादू भरा सकेत! आओ, पर मिल न पाओगे। देखो, पर छू न पाओगे। कैसा सुन्दर, कितना झीना घूँघट काढ़े बैठा है कि एक क्षण के लिए भी दृष्टि जिसकी गयी वहीं

अपना सर्वस्व वेचकर आ गया। घूँघट हिलता-डुलता है मानो अभी वह हटाने ही वाला है, मानो एक वार वह हमारी ओर प्यार भरी दृष्टि डालेगा ही पर······पर······ !!!

यही उसकी नित्य की लीला है। वड़ा कौतुकी है न! देखता रहता है भीतर ही भीतर। कहीं सर्वथा निराश न हो जाऊँ इसलिए कभी-कभी एक क्षण के लिए अपनी झिलमिल-झिलमिल रूपश्री की आभा विखेर कर प्राणों मे सम्मोहन तान छेड़ देता है—गाने लगता है, आओ हम दोनों—केवल हम दोनों सदा के लिये एक साथ वस जायँ। तुम मुझे देखो, मैं तुम्हे देखूँ। तुम्हारे लिये मैं और मेरे लिए केवल तुम ही रह जाओ—सब कुछ, और सब कुछ बीच का लोप हो जाय। आओ, देखो, मैं अपना आवरण हटा रहा हूँ, केवल तुम्हारे लिए हटा रहा हूँ—देखो, देखो, जी भर कर मुझे देख लो, निराश होकर लौट न जाओ!

सोचता हूँ जिसे इतना निठुर-कठोर मान रखा था वह कितना सदय है; मेरी कितनी चिन्ता रखता है, कितना प्यार करता है, कितना अधिक मुझे चाहता है। मान एक पल भी टिक नहीं पाता, सारी खीझ, सारी निराशा, सारा रूठना भूल कर हाहाकार करते हुए प्राण उसके चरणों में जा दौड़ते हैं—परन्तु वह अपनी चाल, अपनी पुरानी चाल क्यो छोड़ने लगा! मुझे अपने संकेत पर लुटा हुआ दौड़े आते देख फिर वही आवरण, वही घूंघट सरका कर जोर से हँस पड़ता है और

कहता है—अरे! मैंने तुम्हें कब बुलाया था, तुम्हें इस एकांत में आने के लिए कब संकेत दिया था, कब कहा था कि सब कुछ छोड़कर मेरी ओर भागे-भागे आओ। लौट जा, ऐ भोले प्राणी यहाँ तो लेने के देने पड़ते हैं। मुझे छू लेना सरल नहीं है, मुझे पा जाना खिलवाड़ नहीं है!!

यही है उसका सब के साथ, समस्त चर, अचर, लोक, लोकान्तर के सभी प्राणियों के साथ रस रंग! बुलाता है और नट जाता है, 'ना' कहकर फिर वंशी फूँकता है कि चले आओ! उसे देखते हुए भी हम छू नहीं पाते, छूकर भी पकड़ नहीं पाते, पकड़ कर भी अपना नहीं पाते, अपना कर भी केवल एकमात्र अपना नहीं बना पाते, वह एकमात्र अपना होकर भी, हमारे प्राणों का बन्दी होकर भी, जीवन का सर्वस्व, प्राणों का आधार हृदय का सर्वेश्वर, होते हुए भी इतना पास होते हुए भी, कितनी दूर, उफ, कितनी दूर है! देख रहे हैं वह वहाँ दूर सुदूर हृदय के करील कुञ्ज में प्राणों की यमुना पर खड़ा-खड़ा मुसका रहा है, बुला रहा है, सकेत दे रहा है, परन्तु अपने ही अन्तः पुर में प्रवेश करने का साहस नहीं होता! इसीलिए तो हम सभी के प्राणों की एक ही पुकार है—एक ही विह्वल प्रश्न है—

कौन गली गये श्याम,

बता दे सखि! कौन गली गये श्याम?

—इसका उत्तर उस भीतर बसनेवाले कौतुकी के सिवा कौन दे?

माँ ! ओ माँ !!

जगज्जननी महामाये ! सृष्टि और प्रलय, जीवन और मृत्यु के सूत्र को अपने हाथों में लेकर जब तुम एक बार अट्टहास करती हो तो उसमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड बनते और बनबन कर मिट जाते हैं। मां, सृष्टि तुम्हारा लास्य और प्रलय तुम्हारा ताण्डव है। तुम कराल-काल हो, महामृत्यु हो। सृष्टि के पूर्व केवल तुम्हीं थी और प्रलय के अनन्तर तुम्हीं रह जाती हो ! काली, दुर्गा और शक्ति तुम्हारा ही नाम है। 'विनाशाय च दुष्कृताम्' तुम्हारा व्रत है। रक्तबीजों से जब संसार का पुण्य त्राहि-त्राहि करने लगता है, जब धर्म को कहीं शरण नहीं मिलती तब देवि ! तुम खप्पर और करवाल लेकर अवतार

लेती हो! ओ मां, तुम्हारा यह रूप कितना भीषण, कितना रौद्र है! मा! तुम्हारा यह विकट रणतांडव! चण्डिके! दुर्गे! मां कालिके! तुम्हारा यह रूप देखकर तो हृदय भय से थर-थर कांप रहा है। यह भीषण रौद्र रूप! घने-घने काले केश खुले हुए हैं। काला डरावना भैरव वेश! मस्तक पर के नेत्र से क्रोधाग्नि धधक रही है। उससे प्रखर दाहक ज्वाला धांय-धाय कर रही है। ऐसा प्रतीत होता है मानो समस्त ससार इस क्रोधाग्नि में भस्म हुआ जा रहा है। दुर्गे! तुम्हारे इस तीसरे नेत्र की ज्वाला!! तुम्हारी और भी दोनों लाल-लाल आखों से चिनगारिया बरस रही हैं। उनसे कराल किरणें फूटी निकलती हैं। मा भैरवि! तुम्हारे मस्तक पर सिन्दूर का जो बड़ा टीका लगा है, वह भी कितना भयावना है! और गले की मुण्डमाला! उफ! इतना भैरव, इतना प्रकुप्त! मां तुम्हारा चन्द्रहार नरमुण्डमाला का क्यो? यह दुहरी-तिहरी मुण्ड-माला। कितना भयानक, कितना बीभत्स! उन नरमुण्डों के मस्तक पर तुमने श्मशान का भस्म लगाकर सिंदूर की बेंदी लगा दी है। मा! यह कैसा विकराल प्रलयङ्कर रूप। उफ। तुम्हारी लाल-लाल जीभ छाती तक लटक रही है और उससे खून टप-टप चू रहा है। दाहिने हाथ मे करवाल है और बायें हाथ में खप्पर। करवाल भी खून से लथपथ है। और तुम्हारा यह खप्पर। रक्त से भरा खप्पर। ना, ना; यह खप्पर कभी भी भरेगा? जब तुम अट्टहास करके शत्रु पर झपटती हो उस

समय मां ! इस खप्पर के रक्त में भी एक आन्दोलन उठ खड़ा होता है। उफ ! तुम्हारी प्यासी तलवार। तुम्हारा लोहू भरा खप्पर। तलवार की प्यास न बुझेगी, न यह खप्पर ही कभी भर पायेगा। सिंहवाहिनी मा। जब तुम सिंह के समान असुरों पर झपटती हो उस समय तुम्हारे मुक्त कुन्तल फहरा उठते हैं—आख से आग बरसने लगती है। लपलपाती हुई जीभ—असुरों का रक्त पीने की अभ्यस्त जीभ। अनादिकाल से तुम असुरों के महानाश मे संलग्न हो; पर तुम्हारा खप्पर न भरा, करवाल की प्यास न बुझी, रक्त पीने से तुम्हारा जी न भरा। पियो, पियो, भगवती भैरवि ! जगज्जननी दुर्गे ! असुर संहारिणी कालिके ! पियो, पियो रक्तबीज का लोहू ! उफ। यह कितना रौद्र, माँ ! जब तुम अपने अधरों को खप्पर से सटा कर रक्त पीने लगती हो—उस समय, उस समय जब एक क्षण के लिये अपने उन्मद नेत्रों को ऊपर उठाकर विकट अट्टहास करती हो !! फिर खप्पर में मुँह सटाकर जब उसमें अपनी कराल काल-स्वरूपिणी लपलपाती हुई जिह्वा को डुबोती हो !! माँ चामुण्डे ! पियो, पियो, असुरों के रक्त को पियो ! और माँ! तुम्हारा ताण्डव ! प्रलय की छाती पर तुम्हारा महाविकराल, ताण्डव ! श्मशान-भूमि में तुम्हारा प्रलय-ताण्डव और उसका रौद्ररूप ! उस समय तुम खप्पर को सिर के ऊपर उठा लेती हो और दाहिने हाथ का करवाल आकाश चूमने लगता है। तुम्हारे केश हवा में खड़े हो जाते हैं। दोनों नेत्रो मे रक्त आभा होती

है और तीसरे से प्रलयाग्नि के क्रोध-स्फीत स्फुलिङ्ग बरसने लगते हैं। गले की मुण्डमाला पदसञ्चालन की गति के साथ कभी कटि के दक्षिण-पार्श्व को और वाम-पार्श्व को स्पर्श करती है। तुम्हारी लपलपाती हुई लाल जीभ ऊपर की ओर मुड़ती है और तुम खूब जोर से अट्टहास करके नाच उठती हो। उस समय तुम्हारे पाँव के पायजेब और घुँघरू झमाझम बोल उठते हैं और तुम उन्मत्त रणचण्डिकारूप में अपने अलस-उन्मद-ताण्डव में सुध बुध खोकर नाचने लगती हो। उस समय माँ! कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, शेष—तुम्हारी नूपुर-ध्वनि में अपनी ध्वनि मिलाकर नाच उठते हैं। सब दिशाएँ, नर-नाग, किन्नर-गन्धर्व तुम्हारे चरणों में भीतभाव से मस्तक टेक देते हैं!! माँ, ओ माँ!

× × ×

माँ! अपनी ज्वाला आप ही सँभालो। यह ज्योति मुझ से सही नहीं जाती। दयामयी जननी! अपना रौद्र रूप समेट लो। माँ भैरवि! मुझे तुम्हारे सौम्यरूप की भी झाँकी लेने दो; माँ! दयामयी माँ!

माँ? तुम्हारा यह सौम्य, शान्त, पावन, कोमल, करुण-प्रेमिल रूप! महामाये! महादुर्गे! माँ शक्ति! तुम्हारा यह स्नेहिल रूप, कितना पावन, कितना सौम्य है!

माँ सरस्वति! माँ, ओ माँ! तुम्हारा यह मङ्गलरूप!

तुम्हारा यह कल्याणरूप ! तुम्हारी यह स्निग्ध-शीतल कान्ति ! हृदय श्रद्धा और प्रेम से तुम्हारे चरणों में नत है।

माँ ! तुम्हारा यह हृदयहारी रूप ! श्वेत-पद्म की सुविकसित पँखुड़ियों पर सुखासीन हो। तुम्हारा वाहन हंस जल में केलि कुरेल कर रहा है। दिव्यवीणा के स्वर्गीय तारों पर तुम्हारी कोमल-कोमल अँगुलियाँ नाच रही हैं। एक हाथ में वेद है, और दूसरे हाथ की अभय-मुद्रा ! धपधपाती हुई स्निग्ध कोमल-धवल कान्ति ! कितनी भव्य, कितनी चित्ताकर्षक पावन-मङ्गल-मूर्ति है। हृदय में पावनता का महासमुद्र उमड़ रहा है, प्राणों में तुम्हारी स्निग्ध-कोमल मधुर कान्ति प्रेम भर रही है। तुम विद्या, बुद्धि, विवेक और ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी हो ! कैसा मङ्गलमय है तुम्हारा रूप—

या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता
या वीणावरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना।
या ब्रह्माच्युतशङ्करप्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता
सा मा पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा ॥

और माँ ! महालक्ष्मी भी तो तुम्हीं हो। सकल ऋद्धिसिद्धि की अधिष्ठात्री, समस्त वैभव की जननी, समस्त सुख-सुहाग-ऐश्वर्य की दात्री माँ ! रक्तकमल पर तुम्हारे कोमल चरण समासीन हैं। कैसा सुन्दर रूप है। लाल रेशमी साड़ी पहने हुई हो। एक हाथ में कमल है, दूसरे में शङ्ख। और अभयदान दे रही हो तीसरे हाथ से। तुम्हारी आँखों से कैसी स्निग्ध

द्युति छलक रही है—और सरोवर में खिले हुए कमलों के बीच ऐरावत अपनी सूंड में कमल की माला लेकर तुम्हारे चरणों में समर्पित करने के लिये उत्सुक है। इस रूप में समस्त विश्व कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड तुम्हारे चरणों में अपना हृदय-कमल समर्पित कर रहे हैं। माँ नारायणि! तेरी जय हो, जय हो!!

× × ×

देवि! जगज्जननी महामाये! तुम्हारा सरस्वती और लक्ष्मीरूप कितना सौम्य और कितना स्निग्ध है। जी चाहता है, अपने को चढ़ा दूँ इस मधुर-मनोहर देवी के पाद-पद्मों पर। माँ! तेरी झाँकी बनी रहे, इससे अधिक इस आतुर हृदय के लिये क्या चाहिये?

जगज्जननी महासती पार्वती तुम्हारा ही नाम है, तुम्ही को न त्रिभुवनमोहन शङ्कर ने वरा था! माता पार्वती! तुम्हारे पावन चरणों में कोटि-कोटि प्रणाम है। देवता के साधन में तुम्हारी कठोर तपश्चर्या! 'वरौ संभु नतु रहौं कुँवारी' की तुम्हारी भीषण प्रतिज्ञा और उस प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिये जीवन को तपस्या की आग में झोंककर, निरावरण होकर सर्वशून्य होकर अपने प्राणनाथ के चरणों में सर्वात्मसमर्पण!

प्रेम की कैसी विकट परीक्षा थी। सप्तर्षि आये और तुम्हें विचलित करने की चेष्टा करने लगे। उस समय तुमने जिस अविचल श्रद्धा, अगाध प्रेम और अटूट भक्ति का परिचय दिया था उसका जोड़ संसार में नहीं मिला। आज भी स्त्रियाँ

माँग में सिन्दूर देते समय सतीत्व के आदर्शरूप में माता गौरी पार्वती का ध्यान करके उनकी माँग में सिन्दूर सभक्ति डाल देती हैं। आज भी संसार में जहाँ सतीत्व की बात आती है, वहाँ, माँ अन्नपूर्णे! परमकल्याणि देवि! तुम्हारा ही नाम गर्व के साथ लिया जाता है। सतीत्व के आदर्शरूप में तुम्हारा गुण-गान समस्त विश्व कर रहा है! और इसी प्रेम ने तुम्हे शिव के चरणों में पहुँचाया।

माँ! तुम्हारा कैसा मङ्गलरूप है। कैसा अपूर्व तुम्हारा परिवार है और कैसे अपूर्व हैं उनके वाहन! मेरे सम्मुख जो मूर्त्ति है वह तो बहुत ही आह्लादकारी और वात्सल्यपूर्ण है। तुम मङ्गलमूर्त्ति मोदकप्रिय शिशु गणेश को गोद मे लेकर सोने के कटोरे में रक्खी हुई मिठाई खिला रही हो और गणेशजी कभी-कभी अपनी सूंड़ स्वयं कटोरे में डुवा देते हैं। भगवान् शङ्कर यह देखकर मुसका रहे हैं। माँ! तुम्हारे कोमल चरण-कमलों में सादर सभक्ति कोटि-कोटि विनम्र प्रणिपात!!

× × ×

सीता और राधा भी तुम्ही हो अम्बे! पातिव्रत्य के आदर्श-रूप में सीता और प्रेम के आदर्शरूप में राधा तुम्हीं हो। सेवा, समर्पण, त्याग तथा आत्माहुति में सीता और राधा संसार में सदा स्मरणीय हैं, वंदनीय हैं।

भगवान् राम संसार में आदर्श मर्यादापुरुषोत्तम और भगवती सीता संसार में आदर्श सती! पति के वन जाने की

बात सुनकर सीता ने कहा—छाया अपने आधार को छोड़कर कहाँ रहेगी? चाँदनी चन्द्रमा को छोड़कर कहाँ रहेगी? वह दृश्य बार-बार आँखों में फिर जाता है—अभिषेक के राम तपस्वीवेश में वन को जा रहे हैं, पीछे-पीछे लक्ष्मण और सीता। वह सीता महारानी, जिन्होंने कभी जमीन पर पैर नहीं रक्खा था, नंगे पैर वन को जा रही हैं। घर से निकल कर दो डेग भी नहीं बढ़े थे कि माता के मुखमण्डल पर स्वेदकण आ गये और थककर लक्ष्मण से पूछती हैं—अभी वन कितनी दूर है?

पति की इच्छा में अपनी इच्छाओं को लय करके प्रेम के आदर्श लोक की सृष्टि कर सीता भारत के प्रत्येक स्त्री-हृदय के सिंहासन पर समासीन हैं। भारतीय स्त्रीत्व अपने गौरव के लिये विश्वविख्यात है और उस गौरव की आधार हैं भगवती सीता। यही कारण है जिससे गङ्गा, गायत्री और गीता के साथ महारानी सीता का नाम जुड़ा हुआ है।

माँ! तुम्हारे पावन चरणों में अजस्र सहस्र विनम्र प्रणिपात, स्वीकार हो!! माँ, माँ, ओ माँ!

और राधा रानी

राधे! राधे! प्रेम के आदर्शलोक में समर्पण की प्रखर विद्युत्-किरण छिटका कर, माधव के नूपुरों में अपने प्राणों की झङ्कार मिलाकर आज तुम प्रेम-लोक की अधिष्ठात्री वन गयीं। हरि के अधरों का रस और चरणों का चुम्बन केवल तुम्हारे

ही हिस्से पड़ा था। माँ! तुम्हारे मधुर-कोमल चरण-तल में मेरा कोटि-कोटि सभक्ति चुम्बन!! माँ! मेरी प्रेममयी माँ!!

× × ×

प्रभु का सबसे प्रिय नाम, सबसे प्रिय रूप 'माँ' है। सभी संकटों में अपनी नन्ही-नन्ही भुजाओं से माँ के गले में लिपट कर उसकी गोद में एक मुग्ध शिशु की भाँति निश्चिन्त होकर जब सोता हूँ, उस समय तीनों लोक और चौदहों भुवन की सम्पदा मेरे चरणों में लोटती है। मेरी माँ ही आदि शक्ति जगज्जननी है। वही वेद जननी है। जब कुछ भी नहीं था, वह थी, जब कुछ भी नहीं रहेगा, वह रहेगी।

माँ के ही रूप का यह समस्त विस्तार है। मेरी माँ ही महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती है। उमा, सीता और राधा भी वही है। गंगा, गीता और गायत्री उसी के व्यक्त रूप हैं। ब्रह्माण्ड की अधीश्वरी वही है। वही विश्व की अनन्त मूल स्रोत है। उसी की शक्ति, उसी का कौशल और उसी का सौन्दर्य जगत् के भिन्न-भिन्न नाम और रूपों में व्यक्त हो रहा है। और उसी की अविद्याशक्ति से विमूढ़ होकर हम उसे भूल जाते हैं तथा जगत् के भोग-विलासों में लिप्त हो जाते हैं।

यह सब कुछ माता का प्रसाद है। माँ कहती है—लो ये सब भोग-वैभव परन्तु मुझे न भूल जाओ! प्रसाद-बुद्धि नष्ट हो जाने से ही और माँ के विस्मरण के कारण ही हम पथ-भ्रष्ट हो गये। माँ का स्मरण करना और इन समस्त भोगों को माँ

के ही चरणों में निवेदन कर देना—यही प्रसाद-भावना है। ऐसा होने पर अपनी भार्या में भी, अपनी कन्या में भी, माँ के दिव्य दर्शन होंगे। जगत् में जितनी भी स्त्रियाँ हैं सभी में माँ का रूप प्रकट होगा और उस समय स्मरण और निवेदन की प्रक्रिया सहज ही, स्वभावतः ही होगी। कुछ करना नहीं पड़ेगा, प्रयास न होगा।

विद्या: समस्तास्तव देवि भेदा स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।
त्वयैकया पूरितमम्बयैतत्का ते स्तुति स्तव्य परापरोक्तिः॥

माँ! 'माँ' से बढ़कर प्रभु को पुकारने का और कोई साधन है नहीं। जगत् में आकर पहला स्फुट शब्द 'माँ' ही उच्चरित हुआ। ओम् मां का ही वैदिक सम्बोधन है। ओम् से गायत्री और गायत्री से वेद—इस प्रकार माँ ही सब के मूल में है। माँ कह कर हम प्रभु के समग्र हृदय को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते है। माँ कहना किसी से सीखना नहीं पड़ता। सास लेने की तरह माँ-माँ पुकारना और माँ की गोद मे निश्चिन्त हो जाना स्वाभाविक है। मां के सिवा शिशु की पुकार सुने भी कौन ?

आकाश पिता है, पृथ्वी माता। दिन पिता है, रात माता। माँ की गोद और पिता की छाया हमे सदा प्राप्त है। सभी स्थान पवित्र हैं क्योंकि माँ के चरण सर्वत्र हैं। 'त्वमेव माता' कहने के उपरात फिर कुछ भी कहना नहीं पड़ता। प्रभु का मातृरूप 'त्वमेव सर्वं मम देव देव' के अनन्तर सामने आता

है। और जब माँ सामने आती है तब किसी और के आने की अपेक्षा नहीं रहती। माँ के चरणों की ज्योति से हृदय का सारा कल्मष सदा के लिए मिट जाता है। हृदय-कमल में श्री मातृचरण का दर्शन बहुत ही दुर्लभ दर्शन है।

घोर संकट और विपत्तियों से जब घिर जाता हूँ, चारों ओर से निराश और उदास हो जाता हूँ, निविड़ अन्धकार में जब कोई मार्ग नहीं सूझता तो एकाएक प्राण माँ-माँ पुकार उठते हैं। और यह पुकार कभी व्यर्थ न गयी। माँ ने कभी न सुना हो अथवा सुनते ही वह दौड़ी हुई न आई हो—ऐसा कभी हुआ ही नहीं। जब कभी, जहां कहीं पुकारा तत्काल माँ के पायलों की आवाज कानों मे आयी, मानो पुकारने भर की देर थी। उस समय माँ के मुख की जो करुण मुद्रा होती है, उससे उसके हृदय की असीम वात्सल्य-वेदना झलकती हैं। वह जैसे ही एक बार पुचकार कर जब हमारे मुख को चूम लेती है उसी क्षण सारे अवसाद का अवसान हो जाता है।

हमारे यहाँ की एक रीति है पुत्र जब 'दुल्हा' बनकर ससुराल जाने लगता है तो माँ ठीक उसके चलते समय उसके मुख से अपना स्तन स्पर्श कराती है, उसका सिर सूँघती है और एक अमित प्यार और आशीर्वाद की दृष्टि से उसे देखती है। रहस्य इसका यह है कि माँ उस समय अपने पुत्र को अपने 'दूध' का स्मरण दिलाती है और संकेत करती है कि अपने प्रणय की स्वामिनी के उल्लास में मुझे बिसार न बैठना, आंखें

न फेर लेना। परन्तु हम में कितने हैं जो उस 'दूध की लाज' बिसार नही बैठते?

ऐसी है अपनी कृतघ्नता! और फिर भी देख रहा हूँ कि माँ दूध का कटोरा हाथ में लिए मेरे पीछे-पीछे घूम रही है और कह रही है—तू ने मुझे बिसार दिया, पर मैं तुझे कैसे बिसारती? मेरा हृदय जो नहीं मानता। मेरे प्राणों मे जो तुम्हारे लिए व्यथा है वह मुझे शान्ति नहीं लेने देती। तू भले ही आखें फेर ले परन्तु मेरी आंखें जो सदा तुम्हें देखते रहने के लिये तरसती हैं। तू मेरी ओर देखता तक नही! अरे! मैं इतने से भी गयी?

मा के रूखे बाल बिखरे हुए हैं, मुँह सूख गया है, आखे सूजी हुई हैं, अञ्चल अस्त-व्यस्त हैं, पाव लडखड़ा रहे हैं और अपनी कृतघ्नता इतनी कि एक बार कण्ठ खोलकर हृदय से मैं पुकार भी नहीं पाता—मां, मा ओ मा! फिर भी मां मेरे पीछे पीछे आ ही रही है!

की स्वदेशे, की विदेशे, माँ आमार सदा पासे
प्राणे वसे कहे कथा मधुर वचने।
आमि तो घोर अविश्वासी, भूले थाकि दिवानिशि
माँ आमार सकल भार वहेन यतने॥

स्वदेश में या विदेश मे—मा सदा ही मेरे समीप है मेरे प्राणो में विराजित होकर वह मधुर वचनो से बोल रही है। मैं अत्यन्त अविश्वासी हूँ, दिन रात भूला रहता हूँ। पर—मा मेरा सारा भार बड़े ही जतन से वहन करती है।

जीवन अभिशाप है या वरदान ?

मनुष्य मात्र के लिए उसका जीवन और यह जगत् एक अविरल समुद्र-मन्थन है। देवता और दानव के द्वारा मनुष्य-जीवन प्रतिपल मथा जा रहा है। कभी देवता खींच ले जाते हैं, कभी दानव। इन दो विरोधी शक्तियों के बीच में मनुष्य बेचारा-सा खड़ा है, ऐसा मानो सचमुच इनके हाथ का खिलौना ही हो। हमारे भीतर ही देवता भी हैं, दानव भी; स्वर्ग भी है, नरक भी। यह जीवन-मन्थन, हृदय-मन्थन, अहर्निश, प्रतिपल, प्रतिक्षण हो रहा है और इसके भीतर से असंख्य तत्त्व निकल रहे हैं। सुख-दुख, राग-द्वेष, प्रेम-वैर,

आशा-निराशा, प्रिय-अप्रिय, पुण्य-पाप आदि सभी द्वन्द्व-समूह इस अन्तर्मंथन के परिणाम-स्वरूप निकले हुए पदार्थ हैं। जो बात व्यक्ति के अन्तस् की है वही बात, ठीक वही बात, समष्टि जगत् के अन्तस् की है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड में—सर्वत्र एक ही लीला चरितार्थ हो रही है।

समुद्र-मन्थन से अमृत भी निकला, विष भी। अमृत के लिये तो सभी लालायित थे। इसीलिये देवता और दानवों में घोर युद्ध हुआ और अन्त में भगवान् को 'मोहिनी' रूप धारण कर दानवा को वशीभूत करना पड़ा। हालाहल शिव के हिस्से पड़ा और इसे आँख मूँदकर वे पी गये। हमारे अन्तर्मंथन की भी यही कथा है। सुखोपभोग के लिये तो हमारे सभी अङ्ग, हमारा मन, चित्त, प्राण, इन्द्रियाँ सभी व्याकुल हैं, लालायित हैं परन्तु दुःख पीने की जब बारी आती है तो इनमें से कोई भी आगे बढ़ना नहीं चाहता। इसीलिये संसार में सुख ढूँढ़ने पर भी नहीं दीखता और दुःख ही दुःख सर्वत्र तैर रहा है। जब तक हमारे भीतर छिपे हुए शिव प्रकटरूप में इस दुःख रूपी हालाहल को पी नहीं जाते तब तक हमारे लिये जीवन और समग्र जगत् दुःखरूप ही है। जगत् की दुःखरूपता का पर्दा तबतक हट नहीं सकता जबतक अन्तर की आँखें खुलती नहीं, और यह खुलना आसान बात नहीं है।

सुख के प्रति:आसक्ति, मोह, लालसा मनुष्यमात्र की सहज दुर्बलता है। दुःख का नाम सुनकर ही मनुष्य काँप उठता है।

और इस प्रकार भावी दुःख और आपदा का भय मनुष्य के 'वर्त्तमान' को भी इतना आच्छन्न और आतङ्कित किये हुए है कि वह सुख की दशा में भी दुखी ही है। इसीलिये भी संसार में सुख की अपेक्षा दुःख अधिक प्रतीत होता है। स्वर्ग की प्राप्ति का लोभ और नरक जाने का भय भी सुख-दुःख को लेकर ही है। और बहुत अंशों में इस लोभ और भय के कारण ही समाज का संघटन और शृंखला बनी हुई है। पुण्य में प्रवृत्ति और पाप से बचने में मनुष्य का बहुत कुछ लक्ष्य सुखासक्ति और दुःखविरक्ति ही है। इस वासना से ऊपर उठे हुए कृतकार्य महापुरुषों की बात यहाँ नहीं करनी है। जन-साधारण की प्रवृत्ति और निवृत्ति के मूल में तो यह क्षुद्र वासना ही कार्य कर रही है। समाज के संघटन तथा लोक में सदाचार के संरक्षण के लिये यह है भी एक अमोघ उपाय। और जो लोग इन वासनाओं के ऊपर जा चुके हैं वे भी इसीलिए इसपर बार-बार जोर देते हैं, हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं कि कहीं बुद्धिभेद न उत्पन्न हो जाय, कहीं मिथ्याचार को प्रश्रय न मिलने पावे। कामाचार पर अनुशासन रखने के लिये इससे सुन्दर साधन हो भी क्या सकता था? हाँ, उसके साथ वे यह भी तो स्मरण दिला ही देते हैं कि 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'। देवता भी, जब उनका पुण्य क्षीण हो जाता है तो स्वर्ग से च्युत होकर हमलोगों के इसी मर्त्यलोक में आ गिरते हैं। नैतिक दृष्टि से, स्वर्ग के सुखों के

प्रति भोग की लालसा का [नियन्त्रण इसके द्वारा कियदंश में हो जाता है। अस्तु।

सुख के समय भी भावी दु.ख की आशङ्का हमारे समस्त जीवन को इस प्रकार आच्छन्न किये हुए है कि एक क्षण भी हम 'सुख की साँस' ले नहीं पाते। एक अभाव पूरा हुआ नहीं कि दूसरा और तीसरा अभाव सामने आने लगता है। इस प्रकार अभावों की एक अविच्छिन्न शृङ्खला-सी बन गयी है। अभावों को इन विक्षुब्ध तरङ्गों में मनुष्य विक्षिप्त-सा, गतचेतन, निरुपाय, आश्रयहीन होकर दुःखों में ही डूबता-उतराता नजर आता है। अभावों से घिरा हुआ मानव शान्ति कैसे पावे— और 'अशान्तस्य कुतः सुखम्' अशान्त को सुख कहाँ? दु.ख के बाद दु'ख और फिर दु.ख, इस प्रकार अपने तुच्छ सीमामय अहं और इसी के विशद विस्तार इस विश्व में 'सर्वं दुःखं-दु'खं' का अनुभव हुआ। इस विषम विषाद की इति, परिणति इस अनुभव में ही घनीभूत होकर सिमट नहीं गयी; मनुष्य ने यह भी देखा कि क्षण-क्षण सब कुछ मृत्यु की ओर अबाध गति से भागा जा रहा है। ऐसा कहना अधिक उपयुक्त होगा कि मनुष्य विवश होकर मृत्यु की ओर घसीटा जा रहा है। उसकी अपूर्ण इच्छा, अधूरी लालसा और अतृप्त साधों को रौंद कर मृत्यु उसका सर्वस्व हरण कर रही है। कल जो था वह आज नहीं है, और जो अभी एक क्षण पूर्व था वह इस क्षण में नहीं है। मृत्यु-ही-मृत्यु की सर्वत्र क्रीड़ा हो रही है। हम

जनमते ही मरने लगते हैं—मृत्यु की ओर बढ़ने लगते हैं। जीवमात्र मरणधर्मा है। सभी मृत्यु के प्रवाह में बहे जा रहे हैं। और कुछ निश्चित हो या अनिश्चित मृत्यु तो निश्चित है ही, अत्यन्त निश्चित। मृत्यु के विकराल जबड़े में पड़ा हुआ मानव सुख की भावना कैसे करे ? यही 'सर्वं क्षणिकं क्षणिकम्' की दारुण अनुभूति हुई। भगवान् बुद्ध के जीवन में 'निर्वेद' और 'करुणा' की जो इतनी प्रधानता है उसके मूल में 'दुःखं-दुःखं' और 'क्षणिकं-क्षणिकं' की यह दारुण अथच विषम वेदना ही है और समस्त बौद्ध दर्शन इस दुःखवाद से ओत-प्रोत है।

यही क्यों ? होमर जैसे स्वस्थचित्त आत्मदर्शी कवि ने, जिसने 'इलियड' और 'ऑडेसी'—जैसे अमर ग्रन्थों की रचना की, जीवन की दुःखरूपता के विषादपूर्ण अन्धकार में यह कहा था कि संसार में मनुष्य-सा अभागा कोई भी प्राणी नहीं है—"There is nothing more wretched than man of all things that breathe and are." ग्रीस का अमर नाटककार और पारदर्शी कवि सोफोक्लिज ने भी इस दुःखमय जीवन के विषाद से ऊब कर यही कहा कि यहाँ से लौट चलना ही परम श्रेयष्कर है—'Not to be born is the most to be desired, but having seen the light, the next best is to go whence one came as soon as may be.' तात्पर्य यह कि संसार में जन्म न लेना ही परम

स्पृहणीय वस्तु है और यदि जन्म ले ही लिया तो अब सर्वोत्तम यह है कि शीघ्र-से-शीघ्र हम वहीं लौट चलें जहाँ से आये हैं।

मैत्रायण्युपनिषद की एक कथा है। वृहद्रथ नाम का एक राजा था। राज्य के भोगविलास से ऊबकर उसने राज्य का सारा भार अपने बड़े लड़के को सौंपकर जंगल का रास्ता लिया। वहाँ उसने कठिन तपस्या की। सूर्य की ओर दृष्टि करके तथा ऊर्ध्वबाहु होकर वह हजार वर्ष तक एक आसन से ही तपश्चर्या करता रहा। उसके तप से प्रसन्न होकर परम तेजस्वी मुनि भगवान् शाकायन्य वहाँ आये और कहा,—'पुत्र! मैं तुम्हारी तपश्चर्या से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो वर माँगो।' राजा वृहद्रथ मुनि के चरणतल में प्रणाम कर बोला—

'भगवन्! अस्थि, चर्म, स्नायु, मज्जा, मांस, शुक्र, शोणित, श्लेष्मा और अश्रु से दूषित, विट्, मूत्र, वात, पित्त, कफ का संघातस्वरूप इस दुर्गन्धियुक्त शरीर को सुखोपभोग पहुँचाकर क्या करूँगा? उससे मुझे क्या सुख होगा? काम, क्रोध, भय, लोभ, विषाद, ईर्ष्या, प्रियजनों का वियोग और अनिष्ट का संयोग, क्षुधा, पिपासा, जरा, मृत्यु, रोग-शोक आदि के आगार इस शरीर को कामोपभोग से क्या? सब कुछ तो क्षयशील देख रहा हूँ। दंश, मशक आदि कीड़े-पतिंगे जैसे लाखों की संख्या में नित्य जनमते-मरते हैं उसी प्रकार मनुष्य भी तो मरणशील

है, फिर ऐसे जीवन को व्यर्थ सुखी बनाने की चेष्टा क्यों करूँ ? इसलिये मुझे इस दुःख-जाल से छूटने का एकमात्र उपाय तत्त्वज्ञान का उपदेश कीजिये।'

राजा बृहद्रथ ने संसार की असारता, क्षणभंगुरता तथा मरणशीलता और दुःखरूपता के कई और भी उदाहरण दिये तथा अन्त में मुनि से तत्त्वज्ञान की याचना की। तत्त्वज्ञान की जिज्ञासावाली बात हटा ली जाय तो राजा बृहद्रथ के जो कुछ अनुभव थे वे ही अनुभव यत्किञ्चित् तारतम्य भेद से हम सभी के हैं परन्तु आश्चर्य यही है कि फिर भी हम दुःख की गलियों में जान बूझकर भटक रहे हैं। यक्ष ने युधिष्ठिर से जब पूछा कि संसार में सबसे महान् आश्चर्य की बात क्या है तो धर्मराज ने बडे ही सुन्दर ढंग से यह कहा था कि प्रतिदिन लोग मर-मरकर यमसदन जा रहे हैं, यह देखते हुए भी बचे हुए लोग ऐसी बुद्धि से व्यवहार करते हैं कि मानो वे कभी मरेंगे ही नहीं। मनुष्य जगत् की दुःखरूपता तथा जीवन की क्षयशीलता को इतना स्पष्ट देख रहा है फिर भी वह जीवन और जगत् से इतना चिपटा हुआ क्यों है ?

'Man's life is full of desires, unrest and dissatisfaction. He wishes for what he does not, and is miserable of it and he at once, just as earnesty wants something else beyond......

'मनुष्य का जीवन, वासना, अशान्ति और असन्तोष का घर

है। आज उसे जो वस्तु प्राप्त नहीं है उसके लिये ललकता है और जिस क्षण उसकी प्राप्ति हो जाती है उसी क्षण किसी और वस्तु के लिये उसके मन में उतनी ही तीव्र ललक जग उठती है।' इस प्रकार दीखता यह है कि मनुष्य के भाग्य में सुख, शान्ति और सन्तोष बदा ही नहीं है। ऐसे जीवन को अभिशाप के सिवा और कहा क्या जाय ?

पाश्चात्य दु खवादी दार्शनिकों में शापेनहर (Shopenhaur) का नाम विशेष रूप में उल्लेखनीय है। शापेनहर की भी यही मान्यता है कि मनुष्य का जीवन क्षणभंगुर तो है ही साथ ही जितने क्षण वह यहाँ रहता है वह दुःखों से घिरा रहता है। उसका कथन है कि यह सब कुछ माया का प्रपञ्च है। ('माया' शब्द शापेनहर को बहुत प्रिय है)। जीवन और स्वप्न एक ही ग्रन्थ के पन्ने हैं—'Life and dreams are the leaves of the same book.' यह जीवन सरासर धोखा है और धोखे में हम यहाँ आ गये—We are led into the citadel by trickery' उसने यह भी स्वीकार किया है कि जीवन के आरम्भ में हमें जो सुखानुभूति-सी होती है वह सुखाभास है, भ्रममात्र है। ज्यों-ज्यों जीवन का नग्न रूप हमारे सामने आने लगता है हम उसके खोखलेपन को अधिकाधिक समझने लगते हैं और हमारे लिये जीवन और जगत् की दुःखरूपता ही एक ठोस सत्य बन जाती है। सुखोपभोग और सुखेच्छा के बीच जीवन की डोरी हिलती रहती है और जिसे हम सुखोपभोग

मानते हैं वह इतना क्षणिक और अस्थिर है कि पलक मारते ही वह आँखों से ओझल हो जाता है। सुखोपभोग जनमते ही क्षय होने लगता है और इसके स्थान पर अभाव, आकांक्षा आ घिरती है। मनुष्यमात्र सुख की खोज मे दुःख की गलियों में भटक रहा है और अन्त में उसे वही अनुभूति होती है जो शेक्सपियर के 'टेम्पेस्ट में अङ्कित है—

> "We are such stuff as dreams
> are made on
> Our little life is rounded with
> a sleep."

'यह हमारा जीवन स्वप्न-तन्तुओं से ही निर्मित है। हमारे लघु जीवन को नींद चारों ओर से घेरे हुए है।'

हिन्दू-दर्शन जीवन और जगत् की इस दुःखरूपता को अस्वीकार नहीं करते परन्तु उसे वे योंही छोड़ नहीं देते। वे इसका निराकरण करते हुए इस सारे दुःख का मूल कारण अविद्या अथवा अज्ञान को मानते हैं—'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।' इस प्रकार हिन्दू-दर्शन के अनुसार चिन्तन के क्षेत्र में जो अज्ञान है, भावना और संवेदन के क्षेत्र में वही दुःख है। इस भावना और सवेदन का आधार है—अज्ञान-मूलक परिस्थिति, मनोवृत्ति और दार्शनिक दृष्टिकोण। अभाव और अवसाद की विषम परिस्थितियों में घिरा हुआ मनुष्य जीवन में सुख की कल्पना भी कैसे करता, विशेषतः जब जन्मे

से लेकर मृत्युपर्यन्त वह सदा दुखों से ही घिरा रहा ? ऐसी परिस्थिति में पड़े हुए मनुष्य की एक दु:खवादी मनोवृत्ति ही बन जाती है और इस मनोवृत्ति के कारण भी वह सदा दुखी ही रहता है। किसी भी पदार्थ, स्थिति अथवा घटना के शुभ पक्ष को न देखकर अशुभ पक्ष पर ही उसकी दृष्टि जमी रहती है। उसका सूर्य सदा मेघों से आच्छन्न ही रहता है और पूर्णिमा की रात में भी वह आनेवाली अमावास्या के भय और विषाद से खिन्न रहता है। वह सदा अवसाद, ह्रास, क्षय, मृत्यु, विनाश और प्रलय के विकराल रूप को ही देखता है और उसे इस जगत् में कुछ भी सुहावना या लुभावना नहीं प्रतीत होता। परिणामस्वरूप उसे अपना जीवन भी अवहनीय भार-सा बन जाता है और वह चाहता है कि इससे कब छुटकारा मिले। उसके लिये यह सारा जगत् दुःख के प्रपञ्च का विस्तार मात्र है और इसे वह 'Vanity of vanity' मानता है।

सचमुच भगवान् से रहित जगत् दुःखमय है। आनन्दमय भगवान् से निकले हुए, आनन्दमय में स्थित और आनन्दमय प्रभु के लीलानिकेतन जगत् को प्रभु से रहित देखना ही अज्ञान है और इस अज्ञान की दशा में सुखरूप दीखनेवाला जगत् भी वस्तुत: दुःखरूप ही है। इसी से मोहग्रस्त मनुष्य को अपने जीवन में तथा इस जगत् में इतने अधिक दुःख दीखते हैं कि उसे प्रभु के मङ्गलविधान ही पर सन्देह होने लगता है। यह

सारा अभिनय, सारा प्रपञ्च, सारा व्यापार, दुःखान्त-ही-दुःखान्त प्रतीत होता है। किसी विधवा का एकमात्र लाड़ला लाल जब मृत्यु के द्वारा उसकी गोद से छिना जा रहा हो उस समय उसके जीवन को हम 'वरदान' कैसे कहें ? वैसा कहना उसकी विवशता से व्यङ्ग करना नहीं तो और क्या है ? जो सबल हैं, श्रीमन्त हैं वे अपने ऐश्वर्य के मद मे चूर होकर निरीह कङ्गालों के कङ्काल को रौंद कर अपनी विजय पर इतराते हैं तो इतरा लें, परन्तु वे स्वयं भी तो मृत्यु के ग्रास हैं, विनाश के निशाना हैं। और यदि ऐश्वर्य मे ही सुख होता तो अमेरिका—जैसे सम्पन्न देश में आत्महत्यायें इतनी साधा ण बात नहीं हो जातीं। ऐहिक दृष्टि से वहाँ के लोग 'सुखी' और 'समृद्ध' कहे जा सकते हैं, परन्तु वहाँ के समाचार-पत्र आत्महत्याओं की खबरों से ही भरे रहते हैं और इन सभी आत्मघातियों का अन्तिम निष्कर्ष यही है कि यह संसार रहने लायक स्थान नहीं है। अभी उस दिन वहाँ के एक बहुत बडे डाक्टर ने आत्महत्या कर ली और उसकी जेब में यह लिखा हुआ पन्ना मिला—Life in this world is not worth living' और तो और, अहिंसा के अवतार भगवान् बुद्ध के ही दो शिष्य-देश जापान और चीन किस घृणित व्यापार में संलग्न हैं ? अब तक कई लाख चीनी इस युद्ध में कट चुके हैं फिर भी इस महानाश की इति होते दीखती नहीं। गत महायुद्ध का घाव अभी हरा ही था, बड़ी कठिनाई से हम उसके परिणामों (after effects) से अपने को

विमुक्त कर पाये थे कि पुनः आज संसार में सर्वत्र महानाश का राक्षसी चक्र चलने लगा है।

इस दुःखान्त अभिनय का कोई 'सूत्रधार' है न ? उफ़! वह कितना क्रूर, कितना नृशंस, कितना हृदयहीन होगा! ऐसा लगता है मानों देवता भी हम मनुष्यों से वैसे ही खिलवाड़ करते हैं जैसे छोटे-छोटे बच्चे रङ्ग विरङ्गी तितलियों के साथ। पकड़ा, बाँधा, खेला और जब मौज में आया पीस डाला—

Gods play with men as little boys with flies,
To kill them when they choose.

—Shakespeare

इस प्रकार जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, दुःख और दोष से भरे हुए इस दुःखालय, अशाश्वत, अनित्य, असुख लोक में आना प्रभु का अभिशाप माना जाय या वरदान ? स्थूल दृष्टि से, इन चर्म-चक्षुओं से देखने पर तो वास्तव में सभी कुछ—चर, अचर अभिशाप की भीषण ज्वाला में जलते हुए दीख रहे हैं। कही भी आनन्द और शान्ति का नाम नहीं है। कोई भी एक क्षण के लिये निश्चिन्त निर्द्वन्द्व और अलमस्त हो नहीं पाता। और आश्चर्य, परम आश्चर्य तो यह है कि वैभव और ऐश्वर्य में आकण्ठ डूबे हुए भी उतने ही दुःखी हैं जितना अभावों में जलते हुए, दाने-दाने के मुहताज राह के भिखारी। किम्बहुना, अनुभव में तो यही आता है कि सांसारिक दृष्टि से जो जितनी ही ऊँची स्थिति में है वास्तविक रूप में, यदि वह

स्वयं अपना हृदय टटोल कर देखे तो राह के भिखारी से भी अधिक चिन्ताशील, अधिक दुःखी, अधिक निराश और अधिक परेशान है।

परन्तु यह यथार्थ दर्शन नहीं है। यह अज्ञान की आँखों से देखा जाने वाला व्यावहारिक अज्ञानाच्छादित जगत् का एकाङ्ग-दर्शन मात्र है। पूर्ण दर्शन, असीम दर्शन, पारदर्शन, यथार्थ दर्शन तो दुःखदर्शन मात्र ही नहीं है। व्यावहारिक जीवन में अन्धकार भी है प्रकाश भी, अमावास्या भी है पूर्णिमा भी, वाइरन भी हैं, ब्राउनिंग और पर इसमें दुःख की झीनी चादर ओढ़े हमारे अन्तस्तल में एक अस्फुट शक्ति, अव्यक्त ज्योति जगमगा रही है।

हृदय की आँखों से देखने पर वह जगत् और यह हमारा जीवन आनन्द का रास-विलास है। भीतर से कोई सङ्केत दे रहा है, आवाहन कर रहा है। जीवन के द्वन्द्व और जगत् के कोलाहल के कारण हम उस सुकोमल स्वर को सुन नहीं पाते। और न सुन सकने के कारण ही तो हमारा सम्पूर्ण जीवन बहिर्मुख होकर दुःख के दावानल में झुलस रहा है। आनन्द की उपलब्धि के लिये अपने से बाहर भटकना नहीं पड़ता, प्रत्युत अपने भीतर लौटना पड़ता है। वहाँ आनन्द का निर्झर, अविरल गति से प्रवाहित हो रहा है। प्रेम, आनन्द और शान्ति की त्रिवेणी तो हमारे अन्तस्तल में ही है। उसमें स्नान करना होगा, उसी का अमृत पीना होगा।

अन्तर की दृष्टि खुल जाने पर यह सारा पसारा 'रहस्यमय' दीखने लगता है—सभी में से 'कोई' मौन सङ्केत कर रहा है बुला रहा है। और वह 'कोई' अपना 'प्राण' ही है, प्राणाधार है, जीवन-सर्वस्व है। भीतर की आँखों से देखने पर तो वस्तुतः सब कुछ प्रेम, आनन्द और शान्ति में सराबोर ही दीखता है, देखनेवाला स्वयं उसी में सराबोर है।

यह दृष्टि मन्त्रों के द्रष्टा ऋषियों को प्राप्त थी। प्रोफेसर राधाकृष्णन् ने लिखा है—"The artistic and the poetic souls lived always in the world of nature and never cared to fly out of it The Upanishads do not teach that life is a nightmare and the world is a barren nothing Rather it is pulsing and throbbing with the rhythm of world.

यहाँ इस जगत् में पुराना कुछ भी नहीं है। यह सृष्टि नित्य नवीन, चिरसुन्दर है। आकाश में जगमगाते हुए ये प्रकाशपिण्ड! सन्ध्या आती है, गोधूली होती है, एक-एक करके आकाश में उदय होने लगते हैं और फिर सारा आकाश इन असंख्य मोतियों से जगमगा उठता है, ऐसा मानो बिजली के छोटे-बड़े, सुनहले-रुपहले अनेक बल्ब लटका रक्खे हों। उस 'पावर हाउस' की बात सोचते ही प्राणों में एक रहस्यपूर्ण गुदगुदी उठने लगती है, जहाँ से सूर्य-चन्द्र और नक्षत्र—इन सभी छोटे-बड़े बल्बों में 'करेन्ट' आता है! कितना बड़ा

खिलाड़ी है वह। सूर्य और चन्द्र के दो लट्टू लटका रक्खे हैं—इस सुन्दर सुविस्तृत सुनील चँदोवे में और उस पर ये असंख्य छोटे-छोटे प्रकाश-पिण्ड! इतना ही नहीं, नक्षत्रों की एक धारा-सी छूट पड़ती है—स्वर्गङ्गा में नक्षत्रों की लहरें उठने लगती हैं। कितना कौतुकी है वह! इन नक्षत्रों के कोमल प्रकाश में राका न जाने कब से 'उसे' खोज रही है। उसका यह खोजना नित्य उल्लासपूर्ण है। अमावास्या की घनी अँधियारी में इन कोमलप्राण नक्षत्रों का सुस्निग्ध प्रकाश प्राणों में एक परम गोपनीय रहस्य का उद्घाटन करने लगता है; हृदय एक मधुर-शीतल-कोमल संस्पर्श से भर जाता है!

गुलाब की पंखड़ी पर एक नन्हीं-सी बूँद! बालारुण की सुस्निग्ध किरणें उस एक बूँद पर मचल उठी हैं। इस ओस-बिन्दु के भीतर छिपे हुए संसार को हमने कभी हृदय की आँखों से देखा है? और यदि सचमुच हमने देखा है तो क्या हमारा यह जीवन और यह संसार क्षणभंगुर प्रतीत होते हुए भी एक प्रेमी की प्रणय-कथा, एक कवि की मर्मस्पर्शी कविता, एक चित्रकार के हृदयहारी चित्र के समान सुन्दर नहीं दिखा?

"This world is not a vale of tears. It is a beautiful world, and men must keep it beautiful by the inherent graciousness of their own lives and by the joy they weave into the lives of others. This world is of course not a man's

home, it is but a halting place on his journey from one point in eternity to the other. It is a wayside inn, the port where we must equip our bark if we would fare sefely on our fateful voyage in this great Beyond."

यह संसार आँसुओं का आगार नहीं है। यह जगत सुन्दर है, और हमारा धर्म यह है कि हम अपने सुन्दर आचरण के द्वारा इसकी सुन्दरता को बनाये रखें और दूसरों के जीवन में आनन्द की लहर पहुँचा कर इस जगत के सौन्दर्य को बढ़ाते रहें। हाँ, यह तो स्मरण रहे ही कि यह संसार हमारा 'घर' नही है, यह एक सराय है, मुसाफिरखाना है, चिड़िया-रैन-बसेरा है जहाँ थोड़ी देर विरम कर हमें अपने अनन्त जीवन के अनन्त पथ में चल देना है। यह एक ऐसा बन्दरगाह है जहाँ हमें महान् सागर में से खेकर 'उस पार' पहुँचने के लिये अपनी किश्ती को तैयार कर लेना है।

यहाँ विनाश कहाँ है, दुःख कहाँ है? यह दीख पड़नेवाला विनाश भी तो नवीन और सुन्दर सृष्टि के लिये ही है। यह प्रतीत होनेवाला दुःख भी तो आनन्द की भूमिका है। अमर गायक रवीन्द्र के शब्दों में—'जो अपूर्ण रह जाता है, मैं जानता हूँ वह भी नष्ट नहीं होता, वह फूल जो खिलता नहीं परन्तु मुरझा कर अपनी सुगन्धि को धूल में मिला देता है, और वह सरिता जो अपनी धारा को मरुपथ में विलीन कर देती है–

मैं जानता हूँ वे वस्तुतः नष्ट नहीं होते। इसलिये इस 'मार मे' भी 'प्यार' ही है क्योंकि यह प्यारे के हाथों की है। उसके कोमल करों का संस्पर्श चाहे मार मे प्राप्त हो या प्रणय की मनुहार' मे, प्राणों को समानरूप से मुग्ध करनेवाला है। शुक्लपक्ष का प्रकाश कृष्णपक्ष के अन्धकार के कारण ही इतना प्रिय, इतना मनोहारी लगता है। करुणा के कारण ही शृङ्गार 'रसराज' बना हुआ है और विरह के कारण ही मिलन मे रस है। सदा एक ही सुर बजता रहे तो जीवन भार हो जाय-monotony छा जाय। धूप और छाँह के समान सुख और दुःख, मिलन और विरह प्राणों को समानरूप से शीतल करनेवाले हैं, जुड़ानेवाले हैं। जीवन का वास्तविक, आन्तरिक सौन्दर्य इस द्वन्द्व की रगड़ मे ही निखरता है। इस विविधता के कारण ही यह जीवन और जगत् प्रभु के प्रेम का उपहार बना हुआ है।

सगीत में आरोह-अवरोह की लहरियाँ चलती हैं। यदि उसमें केवल सा-सा या रे-रे, या ग-ग ही बजता रहे तो कौन सुने ? इसी प्रकार यदि हमारे जीवन में भी बराबर एक ही स्वर बजता रहे, उसमें चढ़ाव-उतार न हो तो इस जीवन के प्रति इतना प्यार क्यों होता—इसे हम 'पुत्रात्प्रेय.', वित्तात्प्रेयः', पुत्र से भी प्रिय, धन से भी प्रिय क्यों मानते ? चित्रकार अपने मन के चित्र को कूची और रग के सहारे कागज पर उतारता है। वह यदि एक ही भाव, एक ही रूप, एक ही मनोदशा, एक ही

स्थिति को अङ्कित करता रहे तो उसकी सारी प्रतिभा बासी न पड जाय! भिन्न-भिन्न रंगों और रेखाओं से वह भिन्न-भिन्न भावों को व्यक्त करता है। वैसे ही हमारा 'चित्रकार' भी नित नये चित्र बनाता है। कैनवास, रंग और रेखाएँ नयी-नयी हैं, परन्तु चित्रकार की 'कला' तो सब में समान रूप से उतरी ही है। सब में उसकी कलम की बारीकी साफ झलक रही है। और वह ऐसा-वैसा कलाकार नहीं है—नित नये साँचे, नये आकार! एक बार जिस साँचे को लिया और उसमें रूप ढाला फिर उस सांचे को फेंक ही दिया! उसकी कला में बासी कोई भी वस्तु नहीं है, नित्य नयी कल्पना, नया साँचा, नया रूप! इस विचित्रता की कोई इति है?

जो कल था वह आज नहीं है, जो एक क्षण पहले था वह अब नहीं है, जो आज है वह कल नहीं रहेगा, जो इस क्षण है अगले क्षण नहीं रहेगा। यह सच है, सोलहो आने सच है। और इसीलिये तो जगत् और जीवन की शोभा भी है। गङ्गा का जल गंगोत्री से निकलकर अविरल गति से पहाड़ों को काटते हुए, चट्टानों को तोड़ते हुए, जंगलों को चीरते हुए अपने-आप अपना रास्ता बनाते हुए चला जाता है। रुक कैसे सकेगा? कौन उसे रोके? अभी एक क्षण पूर्व जो जल यहाँ था, वह तो आगे सरक गया और उसके स्थान पर दूसरा जल आ गया। जल का अनन्त प्रवाह है इसीलिये निकला हुआ जल आनेवाले जल से कटा हुआ नहीं दीखता—इसीलिये Continuity

बनी हुई है। ठीक इसी प्रकार हमारी जीवन-गंगा भी अविरल गति से अपने लक्ष्य की ओर प्रवाहित हो रही है; जन्म और मृत्यु की घाटियों को लाँघती हुई, सुख और दुःख के जंगलों को चीरती हुई, हर्ष और विषाद के कगारों को तोड़ती हुई, मिलन और विरह के दृश्यों को सींचती हुई जहाँ से आयी है वहीं जाकर, वहीं श्रीविष्णु-पद में पहुँचकर शान्त हो जायेगी—एक हो जायगी। तब तक एक क्षण के लिये भी कहीं रुके तो कैसे? यह प्रवाह ही ऐसा है कि इसमें पुराना कुछ भी नहीं हो सकता। दशाश्वमेध घाट पर पुष्प और दीपों का दान तथा मणिकर्णिका पर चिता का भस्म लेकर भी तो गंगा समानरूप से बढ़ती ही जाती है; कहीं किसी स्थान से आसक्ति नहीं, किसी स्थान से विरक्ति नहीं।

यहाँ इस जीवन में क्या पुराना हुआ? यही तो उस 'कलाकार' की अद्भुत कला का दिव्य परिचय है। माता का स्नेह न जाने कब से मिल रहा है, पर वह नित्य नया है। आँचल में अपने नन्हें-से लाल को छिपाकर माँ जब उसके कोमल मुख से अपना स्तन लगा देती है, उस समय उसके प्राणों में प्यार का जो अमृत उमड़ता है उसकी थाह कोई लगा सका है? और, बालक के उत्पन्न होने के पूर्व ही माँ की छाती में दूध की धारा कौन बहा देता है? माँ के हृदय में इतना स्नेह, इतनी ममता, इतना मोह, इतना प्यार किसने भर दिया? और यह वात्सल्य प्यार क्या हम मनुष्यों तक में ही सीमित है? माता का यह

स्नेह जीवमात्र में है। सन्ध्या समय वन से चरकर अपने प्यारे वत्स के लिये रँभाती हुई गाय को हमने बहुधा देखा है। परन्तु देखकर भी तो नहीं देखते। गौ रँभाती हुई अपने प्यारे बछड़े के पास पहुँचती है। बच्छा माँ के थन में मुँह लगाकर ज्यों-ज्यों झकझोरने लगता है माँ का प्यार भी उतना ही उमड़ने लगता है। गाय आधी आँखें बंद किये हुए जीभ से अपने प्यारे बच्चे को चाटने लगती है। उसके रोम-रोम से बछड़े के लिये प्यार का अमृत प्रवाहित होने लगता है। वस्तुतः उसके रोयें प्यार में खड़े हो जाते हैं। उस समय गाय की आँखों में स्नेह का जो समुद्र उद्वेलित होता रहता है उसे हमने कभी अनुभव किया है? यह वात्सल्य प्यार किसमें नहीं है? देखता हूँ, प्रायः नित्य ही यह सुमधुर लीला देखता हूँ। मेरे कमरे में कुछ कबूतरों ने घास-फूस के अपने घर बना रखे हैं। वहाँ देखता हूँ माँ नित्य प्रातः काल आती है और अपनी छाती को अण्डे से सटाकर अपने प्राणों के प्यार को सेती है, पिता अपनी पत्नी की इस प्यार लीला को बड़े ही चाव के साथ देखा करता है। उस समय माता अपनी भाषा में प्यार की लोरियाँ गाती है। उसके रोम-रोम में हर्ष की, आनन्द की जो पुलक होती है उसे हमने कभी हृदय की आँखों से देखा है? और प्यार की यह अजस्र-धारा पशु-पक्षियों तक में ही सीमित नहीं है। स्वर्गीय सर जगदीशचन्द्र वसु के मर्मपूर्ण अनुसन्धानों से तो यह भी पता लग गया है कि वृक्ष, लता और पौधे भी प्रेम की क्रीड़ा में ठीक

हम मनुष्य पशु-पक्षी जैसे ही संलग्न हैं—वहाँ भी वात्सल्य प्यार है, पति-पत्नी का प्रेम है। ये सारे सम्बन्ध, सारे व्यव-हार और तज्जन्य प्रेमानन्द छोटी-बड़ी सभी प्रकार की वनस्पतियों में भी व्याप रहा है।

The desire of the moth for the star
Of the night for the morrow
The devotion to something afar
From the sphere of our sorrow.

—*Shelley.*

आनन्द निर्झर की ये शत-शत धाराएँ हमारे जीवन को आप्लावित कर रही हैं। हमारे सभी सम्बन्ध, सभी हित-नात, स्थूल-से-स्थूल और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, भगवान् के आनन्द को ही हमारे जीवन में बरसा रहे हैं। पार्थिव सम्बन्ध, कोई भी है ही नहीं। सारे सम्बन्ध प्रभु के अनेक रूप और अनेक सम्बन्ध की झलक दे रहे हैं। यह सब कुछ उस दाता का दान है। उसने क्या नहीं दिया, उसने क्या नहीं किया और संयोग-वियोग की दुहरी लहर में तो और भी अधिक आकुलता से 'वहीं' आलिङ्गन का दान दे रहा है। जो जहाँ है उसके लिये वही स्थान सब से उपयुक्त है, जो जिस काम में है वही काम उसके लिये महान् कल्याणकारी है। क्योंकि सभी स्थान, सारे व्यापार उस 'एक' में पिरोये हुए हैं—'सूत्रे मणिगणा इव।' उससे परे, अलग, भिन्न कोई भी वस्तु रह नहीं सकती, ठहर

नहीं सकती। उस प्रभु के साथ युक्त हो कर हमें सारे व्यापार और सारे सम्बन्ध को दिव्य बना लेना है, divinise कर लेना है। मिथ्या-मिथ्या चिल्ला-चिल्लाकर हम अपने ही मिथ्या अहङ्कार को पुष्ट कर रहे हैं क्योंकि मिथ्या है तो हमारा एक मात्र यह मैं-मैं-मैं। यह समस्त जगत् और इस जगत् के समस्त प्राणी परमानन्द हरि के व्यक्त स्वरूप हैं। 'और कुछ' है ही नहीं। जिधर दृष्टि फिरी 'वही' नजर आया, जो काम हाथ में लिया वही 'पूजा' बन गया और जहाँ सिर झुका वहीं उसके कोमल चरणों का स्पर्श मिला। अकेले में, बीहड़ में, वन में वही गलबाँही दिये साथ चला। मन्दिर हो या मसजिद या गिरिजा घर, सर्वत्र ही हमारे प्यारे की ही वन्दगी और एबादत हो ही है। सभी के मस्तक पर उसी के हाथ हैं, सभी के प्राणों में उसी की धड़कन है, सभी की आँखों में उसी का जलवा है।

आनन्दमय प्रभु की कला भी आनन्दस्वरूप ही है। सारा उसका वरदान है। जीवन में जो सुख आये वे भी उसके वरदान, जो दुःख आये वे भी उसके वरदान। दोनों का सहर्ष स्वागत। 'यार' की सौगात है, प्यारे की प्यारभरी भेंट है। यहाँ कुछ भी व्यर्थ नहीं है, कुछ भी मिथ्या नहीं, कुछ भी मर्त्य नहीं। सभी—अणु-अणु, परमाणु-परमाणु, चर-अचर, समस्त उस 'एक' सनातन, दिव्य, चेतन सत्ता के अंश हैं और उससे सम्बन्धित होने के कारण सभी कुछ सत्, चित् और

आनन्दस्वरूप है। इसीलिये तो हमारे पारदर्शी ऋषियों ने कहा है—आनन्दाद्ध्यव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रत्यभिसंविशन्ति—आनन्द से ही समस्त भूत निकले हैं, आनन्द में ही पलते हैं और आनन्द में ही समा जाते हैं।

इस आनन्दोपभोग के लिये ही संसार की रचना हुई है। सभी कुछ, चर, अचर इसी आनन्द के हिलोरों से नाच रहा है। 'Everlasting Yes' 'सनातन हाँ' यही है। मिलने में तो प्रत्यक्ष आनन्द है ही विरह भी आनन्द का ही सुर है। इस आनन्दरस को भोगने के लिये ही माँ पुत्र को प्यार करती है, मित्र-मित्र के लिये आग्रहशील है, पति, पत्नी के लिये, पत्नी, पति के लिये, भाई बहिन के लिये, बहिन भाई के लिये इतने व्याकुल हैं। सभी इस प्रेमपूर्ण मधुर सम्बन्ध से ही उस रस-रूप परमानन्द का भोग कर रहे हैं। यह आनन्द नहीं होता तो यह जगत् पलभर के लिये भी जीवित नहीं रह सकता। तीनों लोक और चौदहों भुवन का एक-एक कण वासुदेव की वासना से वासित है। वही हमारा 'सर्वस्व' समस्त रूपों का आवरण ओढ़े सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और स्थूल-से स्थूल-रूप और सम्बन्ध में हमारी ओर झाँक रहा है, बुला रहा है, मिलन का सङ्केत कर रहा है। भीतर भी वही जा छिपा है, बाहर भी वही फैला है। वही वह, वही वह। बीच में तुच्छ अहंकार-मोहक पर्दा पड़ा हुआ है, इस चिक की ओट से भी वही झाँक

है। उसे न कोई चिन्ता है, न भय, उसे न आसक्ति है, न शोक, न मोह, न ग्लानि।

मृत्यु को संतों और भक्तों ने एक अपूर्व कुतूहल की दृष्टि से देखा है। मृत्यु को लेकर एक ओर तो संसार में वैराग्य स्थापित हुआ दूसरी ओर इसे 'साजन' के देश का निमन्त्रण माना गया। मृत्यु से ससार की अनित्यता और क्षणभङ्गुरता ही नहीं प्रमाणित हुई—जन्म-जन्म से हम अपने 'प्राणधन' को खोजते आ रहे हैं—और हमारी खोज मृत्यु को भी लाँघकर चलती रहेगी—यह भी प्रमाणित हुआ। कबीर ने मृत्यु को साजन के देश का निमन्त्रण माना है। प्रीतम की बुलाहट है 'मिलन-मन्दिर' में। मृत्यु उस मिलन-मन्दिर का द्वार है; इसे पारकर 'शीश-महल' में साईं की सेज पर पौढ़ने को मिलेगा। इस सम्बन्ध में कबीर का—

करले सिंगार चतुर अलबेली साजन के घर जाना होगा।

सहजही स्मरण हो आता है। कबीर ने तो 'अलबेली को नहाने-धोने, माँग में सिन्दूर लगाकर नयी लाल साड़ी पहिनने की सलाह दी है क्योंकि उनके विचार से यह 'मिलन' परम मिलन होगा और पुनः वहाँ से लौटना न होगा।

न्हाले, धोले, सीस गुँथाले, फिर वहाँ से नहीं आना होगा।

मृत्यु के सम्बन्ध में जहाँ इतनी सुन्दर और मधुर भावना है वहाँ यों भी है—

हमकों ओढ़ावै चदरिया, चलती बिरियाँ ॥
प्रान राम जब निकसन लागे
उलट गई दोउ नैन पुतरिया ।
भीतर से बहर जब लावै,
छूटि गई सब महल अटरिया ॥
चारि जने मिल खाट उठाइनि,
रोवत लै चले डगर डगरिया ।
कहत 'कबीर' सुनो भाई साधो,
सग चली वह सूखो लकरिया ॥
हम कौं ओढ़ावै चदरिया, चलती बिरियाँ ॥

उपनिषदों में मृत्यु को जीतने की विधि बहुत विस्तार से बतलायी हुई है। हमारे क्रान्तदर्शी महर्षियों ने जीवन में ही मृत्यु को पी लिया था और मृत्यु के 'उस पार' के देश को देखा था। उन्होंने आँखें बंदकर अपनी आत्मा की ज्योति में इस जगत् के नाम और रूप का लोप कर दिया था। उनके लिये यह विश्व भी एक दिव्य आर्ष कविता थी, भगवान् का मधुर संगीत था। आँखें खोलकर जब वे संसार की ओर देखते तो यह संसार जो हमलोगों के लिये इतना विकराल प्रतीत होता है उनके लिये ब्रह्ममय था, वासुदेवमय था। 'उस' के अतिरिक्त कुछ था ही नहीं। अणु-अणु में 'वह' ओत-प्रोत है। कोई स्थान नहीं जहाँ 'वह' न हो। आँखें खोलकर जब वे 'हरिरेव जगज्जगदेव हरिः' का साक्षात्कार करते और

उस विराट्-ज्योति में अपनी आत्मा की ज्योति को एक कर देते तो द्वैत नाम की कोई वस्तु रह नहीं जाती। वे "तस्यैव भासा सर्वमिदं विभाति' की दिव्य अनुभूति में निरंतर जागते रहते। जिसने संसार के इन बनते-मिटते चित्रों में अविच्छिन्न रूप से प्रभु का साक्षात्कार कर लिया उसके लिये मृत्यु कैसी ?

मृत्यु के सम्बन्ध में एक भारी भ्रम काम कर रहा है। हममें से प्रायः सभी यह समझते हैं कि मृत्यु जीवन की 'इति' है। जो वैसा सोचते-समझते हैं वे जीवन के वास्तविक अर्थ से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। जीवन की गङ्गा तो प्रभु से निकलकर प्रभु में ही मिलेगी। सुख-दुख, पुण्य-पाप, दिन-रात, आशा-निराशा की जैसी जोड़ी है वैसी ही जन्म-मृत्यु की, न कि जीवन-मृत्यु की। जीवन-प्रवाह तो एक है, सनातन है, दिव्य है। वह कई योनियों मे से होता हुआ, पूर्ण होने के लिये व्याकुल होता हुआ विकास-पथ से चलता जा रहा है। इसकी गति तो तब तक रुक नहीं सकती जब तक स्वयं अनंत न हो जाय। एक ही जीवन-क्रम में कई जन्मों की शृङ्खला लगी है। जो जनमता है वह मरता है अवश्य, परन्तु मृत्यु को चीरकर भी तो जीवन का प्रवाह चलता रहता है। जीवन और जन्म दो चीजें हैं।

ठीक इसी भाव को एक आत्मदर्शी अंग्रेज कवि ने बहुत ठीक शब्दों में व्यक्त किया है—

Birth is not the beginning of life,
Nor is death its ending,
Birth and death begin and end
Only a Single chapter in life story.

इसका सरल भावार्थ यह है कि जन्म ही जीवन का आरम्भ नहीं है, न मृत्यु ही इसका अंत है। जन्म और मृत्यु तो बस जीवन के एक अध्याय का अथ और इति है।

यह नन्हा-सा जीवन जिसे हम अपने इस जन्म और इस मृत्यु के बीच देख रहे हैं, हमारे अमर सनातन जीवन का एक अंश है। नदी की धारा बहती है। बीच में पुल आ जाता है जिसकी एक हल्की-सा पतली छाया-रेखा नदी की धारा पर पड़ जाती है। परन्तु धारा तो उस क्षीण रेखा की चिन्ता नहीं करती। वह तो अनवरत रूप से बहती ही चली जाती है और तब तक बहती चली जायगी जबतक वह समुद्र में अपना नाम रूप गँवाकर एक न हो जाय। नदी तो समुद्र में लय होकर ही शान्त होगी। बीच में वह रुकने को नहीं। इसी प्रकार यह जीवन की धारा भी प्रभु के अनंत प्रेम में ही जा मिटेगी। इसे जन्म और मृत्यु के कितने द्वार लाँघकर छोटे-छोटे जीवनों के कई समतल को चीरकर बहते रहना है। ऐसा समझ चुकने पर फिर अमर जीवन के इन छोटे-छोटे अध्यायों के अथ-इति से घबराने की कोई बात नहीं।

करना तो बस एक ही काम है—और वह यह है कि हमारे अमर अनन्त जीवन का यह छोटा-सा अध्याय जो हमारे सामने से चल रहा है किसी प्रकार दूषित और कलङ्कित न होने पावे। यह अध्याय जितना ही सुन्दर होगा उतना ही विकास अगले अध्याय में निश्चित है। यावत् चर-अचर में प्रभु का साक्षात्कार करते हुए समस्त बसुन्धरा के लिये प्रेम रखना ही जीवन का सच्चा सदुपयोग है। जो कुछ हम देख रहे हैं, जो कुछ सुन रहे हैं—स्पर्श कर रहे हैं, सभी प्रभु के माधुर्य और सौंदर्य से ओत-प्रोत हैं। प्रभु के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। इस प्रकार अखिल चराचर में अपने 'हरि' का साक्षात्कार करते हुए हम प्रत्येक पल ऐसा ही आचरण करें जैसा हम अपने 'प्राणों के प्राण' और जीवन के सर्वस्व के साथ कर सकते हैं। प्रेम ही प्रभु की सच्ची प्रार्थना है।

He prayeth best who loveth best,
Both man and bird and beast,
He prayeth well who loveth well,
All things both great and small.

—*Coleridge.*

यों तो वाहर से ससार पाप, घृणा, द्वेप, कलह, वैर, संहार आदि से जल रहा है। परन्तु पर्दा हटाकर 'जल्वए इश्क' की एक झाँकी जिसने कर ली उसके लिये तो 'नेह नानास्ति किञ्चन' का अनुभव सहज हो जायगा। जगत्

के इस आवरण के भीतर का जो मधुर अभिनय है उसे देखने के लिये कितने हैं जो आगे आकर प्राणों की भेंट चढ़ाने के लिये तैयार हैं? एक वार भी एक क्षण के लिये भी जिसने अपनी आत्मा की ज्योति की तद्रूपता विश्वात्मा की समग्र विराट् ज्योति में स्थापित कर ली उसके लिये क्या जीवन और क्या मृत्यु? चेतन और अचेतन की समष्टि में भी तो हमारी आत्मा ही विश्वरूप में प्रतिभासित हो रही है—मेरा अहं ही सर्वत्र व्याप्त है, फिर मृत्यु कैसी? आना कैसा और जाना कहाँ?

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

यह वात सच है कि अमर जीवन के इस समग्र रूप को ठीक-ठीक देख पाना वहुत कठिन है। हमारे प्राचीन ऋषि-महर्षियों ने इसे अवश्य देखा था। इस वनने-मिटनेवाली काया को ललकार कर कवीर ने कहा है—

प्राण कहे सुनु काया मेरी तुम हम मिलन न होय।
तुम सम मीत वहुत हम कीना सग न लीना कोय॥

रवि वावू ने भी अपनी एक कविता में इस अमर अनन्त जीवन का साक्षात्कार करते हुए लिखा है—'आज वही वात याद आ रही है, युग-युगान्तर से स्खलित होकर चुपचाप रूप से रूप में, प्राण से प्राण में, संक्रमित होता हुआ चला आ रहा हूँ। आधी रात हो या प्रातःकाल, जव जो कुछ हाथ में

आया—सब कुछ लुटाता आया हूँ। दान से दान को, गान से गान को।' इस प्रकार मृत्यु जीवन को पूर्ण करती हुई आती है और नया जीवन दे जाती है।

इस सम्बन्ध में आत्मदर्शी अंग्रेज कवि ब्राउनिंग की 'The best is yet to be' वाली कविता विश्व-साहित्य में अमर है। उसमें कवि ने बड़े ही भावपूर्ण जोरदार शब्दों में यह प्रमाणित किया है कि प्रतिपल हमारा विकास होता जा रहा है। प्रतिक्षण हमारा जीवन सुन्दर-सुन्दरतर होता जा रहा है। हमारे जीवन की जो डिजाइन ईश्वर के हाथ में है उसकी कल्पना भी हम नहीं कर सकते। जो कुछ हम देख रहे हैं वह हमारे अमर जीवन की अधूरी, अस्पष्ट और धुँधली छाया है। बुढ़ापा अभी निकलनेवाली कली का उपक्रम है।

इसीलिये कवि ने हर्ष और उत्फुल्लता के साथ जीवन के प्रत्येक कष्ट और कठिनाई का स्वागत किया है क्योंकि कष्टों और कठिनाइयों से तो जीवन चमक उठता है और उनके कारण हम कर्म-पथ में और भी उत्साह और उल्लास से बढ़ते हैं—

Then welcome each rebuff
That turns earth's smoothness rough
And makes not sit, nor stand but go.

'सारे कष्टों और कठिनाइयों का स्वागत! इसने जीवन के समतल को ऊबड़-खाबड़ बना दिया है और इसी की प्रेरणा न हमें बैठने देती है, न खड़े होने, इसके कारण हम सतत चलते ही रहते हैं।' जीवन की अमर धारा को ठीक-ठीक हृदय में उतार कर संसार की ओर निहारने पर इसके शूल भी फूल के समान दीखेंगे।

हम अभी उसे जान लें तो हम अपने वर्त्तमान जीवन को सुख, शान्ति, आनन्द और प्रेम से नहीं बिता सकते। प्रभु ने भविष्य के गर्भ में क्या है—इससे मनुष्य को पूर्णतः अनजान, अनभिज्ञ रक्खा; इसमें उसकी इच्छा स्पष्ट है कि फल क्या होगा, इसकी हम व्यर्थ चिन्ता करके व्यग्र न हों।

मनुष्य भविष्य की चिन्ता करके ही दुखी होता है। भविष्य की चिन्ता का होना अस्वाभाविक नहीं है परन्तु दृढ़ अभ्यास के द्वारा उसे रोका जा सकता है और उसकी ओर से निश्चिन्त, निर्द्वन्द्व, बेफिक्र होकर वर्त्तमान को सुखमय, आनन्दमय, उल्लास-मय बनाने का प्रयत्न किया जा सकता है। भविष्य की ओर से निश्चिन्त हो जाना ही वर्त्तमान को आनन्दमय बनाना है। हमारी इस निश्चिन्तता और अलमस्ती की तह में प्रभु पर अखण्ड निर्भरता है। उसकी गोद में अपने को डालकर, उसकी छाती में अपने को छिपाकर, सब ओर से आँखें मूँदकर माँ की छाती क दूध पीते हुए लोक-परलोक सब कुछ भूल जाना—माँ में एकाकार हो जाना—संसार की ओर पीठ फेर देना है। यहाँ संसार को भूलने का प्रयत्न नही करना पड़ता। माँ के स्तन से जहाँ मुँह सटाया कि दुनिया मिटी। फिर भविष्य की निगोड़ी चिन्ता और लोक-परलोक का अस्तित्व ही कहाँ रहा? हम तो सदासर्वदैव उसकी शीतल गोद में सुरक्षित हैं। वह मुझे अपनी छाती में छुपाये हुए है, आलिङ्गन मे बाँधे हुए है, चुम्बनों की वर्षा से मेरे रोम-रोग को नहला रही है–मेरी ऐसी दयामयी

जननी मुझे कभी छोड़ सकेगी, बिसार सकेगी—इसकी कल्पना ही क्यों? भविष्य के गर्भ मे क्या है—इसकी चिन्ता करने-वाले हम कौन? 'भविष्य' को जिसने रचा है वही उसकी सँभाल भी करेगा। हम नाहक क्यों उसके लिये परेशान हों? क्यों नाहक उसके लिये अभी से व्यग्र और व्याकुल होकर अपने वर्त्तमान को भी विक्षुब्ध और अशान्तिमय कर दें।

किश्ती खुदा पै छोड़ दी लंगर को तोड़ दी,
अहसान नाखुदा का उठाये मेरी बला।

मनुष्य की बुद्धि बहुत थोड़ी दूर तक देख सकती है। हमारे जीवन का प्लान परमात्मा के हाथ है। उसी को पूरी डिजाइन का पता है। हमारे सम्पूर्ण जीवन के पूर्ण चक्कर को वही, केवल वही देख सकता है। पता नहीं, कितने युगों से किस-किस रूप में हमारे इस जीवन की धारा बहती चली आ रही है। पता नहीं, कैसे-कैसे व्यवधान, बाधा, विषमता, हर्ष, सुख, दुःख, आनन्द, पुलक आदि की अनुभूति होती आयी है। कौन कह सकता है कि हमारी जीवन-सरिता के तटपर कहाँ और कब काशी मिली, कब प्रयाग मिला, कब शून्य निर्जन घोर वनस्थल मिला, कब सूना श्मशान मिला, कब पूजा के पुष्प मिले और कब चिता का भस्म मिला। पता नहीं, किस अनादि के गर्भ से हमारी यह जीवन की पयस्विनी प्रस्रवित हुई, और इसकी अमर सनातन धारा किस-किस देश को सींचती हुई, ढहाती हुई, अपने में मिलाती हुई यहाँ चली आयी है, बहती चली जा रही है, बहती

चली जायगी और अनन्त समुद्र की छाती में अपने को लय कर, जिसमें से निकली थी उसी में लय हो जायगी, सुख से सो जायगी। हम अपने इस जीवन के ही समग्र रूप को नहीं देख सकते, पिछले और अगले जन्मों की तो बात ही नहीं। हमारा अभी जो यह वर्त्तमान जीवन है, जो हमारे वत्तमान जन्म और इसकी मृत्यु के बीच लहरा रहा है—वास्तव में एक अखण्ड, अनन्त,दिव्य सनातन जीवन-धारा का अंशमात्र है। इस अंशमात्र के अंश को जब हम पूरा-पूरा नहीं देख पाते तो फिर भावी के विषय में निराधार कल्पना करके अपने को दुखी बनाना क्या बच्चो की-सी मूर्खता नहीं है? हमारे इस जन्म के पहले भी तो हमारा जीवन-प्रवाह था और मृत्यु के अनन्तर भी तो वह बना रहेगा। क्या उसे हम समग्ररूप में, सम्पूर्णतः देख सकते हैं?

हमारा देखना अधूरा है, अपूर्ण है, अस्त-व्यस्त है, अतः खण्डित तथा विकृत है। इसके आधार पर कुछ भी अनुमान लगाना बलात् दुःख को मोल लेना है। महाकवि ब्राउनिंग ने अपनी एक कविता में जीवन का समग्र रूप दिखलाते हुए यह बतलाया है कि जीवन का जो अंश तुम देख रहे हो, और इसके आधार पर जो कल्पना तुमने रच ली है वह निराधार है। भविष्य में तुम्हारे लिये पूर्णतम, सुन्दरतम, परमदिव्य बनने के समग्र साधन परमात्मा ने निश्चित कर रक्खा है। वे सभी क्रमशः एक-एक कर तुम्हें जीवन की विराट् दिव्य धारा में एक करने के लिये पहले से ही निर्धारित हैं।

तुम्हारा भविष्य उज्ज्वल और आशामय है क्योंकि तुम अनादि से निकल कर अनन्त में मिलने जा रहे हो। बीच में तुम विरम नहीं सकते, रुक सकते। कोई भी बाधा तुम्हारे पथ में बाधक बनकर नहीं आ सकती। तुम्हारे चरणों के नीचे आते ही सब शूल फूल बन उठेंगे और तुम्हारी यह जीवन-यात्रा मङ्गलमय, आनन्दमय, प्रेममय, अमृतमय होगी। दीख पड़नेवाली कठिनाइयाँ तुम्हारे जीवन के सौन्दर्य को अधिक चमका देंगी—उस रगड़ में तुम्हारा वास्तविक रूप निखर आवेगा। तुम अमरपुत्र हो, तुम्हारी खोज, तुम्हारी प्यास अनन्त समुद्र के सिवा कहीं पूरी हो नहीं सकती और यह विश्वास मानो, तुम्हारी यात्रा अनन्त प्रेमार्णव की ओर ही हो रही है; प्रतिपल अधिकाधिक तुम अपने उद्देश्य के निकट पहुँचते जा रहे हो। उस अनन्त प्रेमार्णव में मिलने की जो तीव्र उत्कण्ठा है वही जीवन में गति भरती है और उसके कारण ही तुम्हारा सारा पथ मङ्गलमय है, हर्षमय है। प्रेम, आनन्द और सौन्दर्य की अजस्र वर्षा तुम पर हो रही है। तुम्हारे पथ में प्रभु की अनुकम्पा के फूल बिखरे हैं।

पता नहीं, कब से, कितनी मृत्युओं के द्वार को लाँघता हुआ हमारा यह जीवन चलता आया है और अभी कितनी बार मृत्यु का द्वार लाँघना पड़ेगा। जन्म और मृत्यु के दुहरे द्वार को लाँघता हुआ यह प्रवाह अबाध गति से चलता चला जा

रहा है। पूरी डिजाइन परमात्मा के हाथ है। भविष्य में अनिष्ट की आशङ्का करके सिर पीटना नास्तिकता नहीं तो और क्या है? जो आदमी ईश्वर की सत्ता में विश्वास करेगा वह भविष्य की चिन्ता या भय क्यों करेगा? वह तो अपने को सदैव हरि की गोद में सुरक्षित मानेगा ही। उसके लिये फिर सारे कष्ट और कठिनाइयाँ प्रभु के प्रगाढ़ आलिङ्गन का रस लावेंगी। कष्टो के भार से वह झुकेगा नहीं क्योंकि उसे तो परमात्मा की सारी शक्ति प्राप्त है। दीख पड़नेवाली विपरीतता और प्रतिकूलता में जब 'जीवनधन' का छिपा हुआ हाथ दीख जाय तो फिर हँसे बिना रहा कैसे जायगा? स्वांग में छिपे हुए 'देवता' के सभी रूप हृदय को लुभानेवाले हैं। चाहे वह जिस रूप मे आवे उसके चरण सदैव हमारे हृदय पर ही रहेंगे क्योंकि 'उस' को सर्वरूपता में हमारा अपनापन भरा हुआ है। उसके सभी रूपों और सभी क्रियाओं को हमारी ललचायी हुई आँखें सतृष्ण दृष्टि से देख रही हैं और अघाना नहीं जानतीं। जब हमारे प्रियतम प्राणाधार, हृदयसर्वस्व के हाथ में ही हमारे जीवन की बागडोर है, जब हमारा 'अपना' ही हमारे भविष्य का विधायक है तो फिर आशङ्का किस बात की, भय काहे का?

परन्तु हाय रे मनुष्य की दुर्बलता! मनुष्य अपने योगक्षेम के पीछे परेशान है और इसी गोरखधन्धे में बुरी तरह उलझा हुआ है। इस उलझन को वह जितना ही सुलझाना चाहता

है उतनी ही उलझन और उलझती जाती है और इस चक्रव्यूह को बेधनेवाला अभिमन्यु कभी पैदा ही नहीं हुआ। जिसने इसे रचा है वही इसका रहस्य जानता है और उसी के साथ हम भीतर प्रवेश भी कर सकते हैं।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

प्रभु के प्रकाश के बिना इस अन्धकार में एक डेग आगे बढ़ना खतरे से खाली नहीं है। हृदय में उसकी मूर्ति, चित्त में उसकी स्मृति, प्राणों में उसकी प्रीति, फिर आँखें जिधर जायँगी वहीं हरि, मन जहाँ जायगा वहीं मनमोहन हँसते खड़े निहारते रहेंगे। उस समय हाथ से जो कुछ भी कर्म होगा वह भगवत्प्रीति को उत्पन्न करनेवाला होगा और समग्र जीवन श्रीकृष्णार्पण की एक मधुर सुन्दर शृंखला हो जायगा। उस समय मन में कभी किसी अनिष्ट की आशङ्का रह ही नहीं जायगी, जिसने इष्टदेव के दर्शन कर लिये, वन्दन कर लिये, उसके लिए फिर 'अनिष्ट' कैसा, प्रतिकूलता कैसी ?

मनुष्य तो सत्य को त्याग कर मृगजल से तृप्त होना चाहता है। वह बुरी तरह इसके पीछे भाग रहा है—शान्ति के लिये, सुख के लिये, आनन्द और परितृप्ति के लिये, और मिलता है उसको बदले में दुःख, अशान्ति, ज्वाला और जलन। और ईश्वर में विश्वास ? जिस प्रभु ने गर्भ मे हमारी रक्षा की, जो प्रतिपल हमें सम्हाल रहा है, जो प्रत्येक दशा मे

रहा है। पूरी डिजाइन परमात्मा के हाथ है। भविष्य में अनिष्ट की आशङ्का करके सिर पीटना नास्तिकता नहीं तो और क्या है? जो आदमी ईश्वर की सत्ता में विश्वास करेगा वह भविष्य की चिन्ता या भय क्यों करेगा? वह तो अपने को सदैव हरि की गोद में सुरक्षित मानेगा ही! उसके लिये फिर सारे कष्ट और कठिनाइयाँ प्रभु के प्रगाढ़ आलिङ्गन का रस लावेंगी। कष्टों के भार से वह झुकेगा नहीं क्योंकि उसे तो परमात्मा की सारी शक्ति प्राप्त है। दीख पड़नेवाली विपरीतता और प्रतिकूलता में जब 'जीवनधन' का छिपा हुआ हाथ दीख जाय तो फिर हँसे बिना रहा कैसे जायगा? स्वांग मे छिपे हुए 'देवता' के सभी रूप हृदय को लुभानेवाले हैं। चाहे वह जिस रूप में आवे उसके चरण सदैव हमारे हृदय पर ही रहेगे क्योंकि 'उस' को सर्वरूपता में हमारा अपनापन भरा हुआ है। उसके सभी रूपों और सभी क्रियाओं को हमारी ललचायी हुई आँखें सतृष्ण दृष्टि से देख रही हैं और अघाना नहीं जानतीं। जब हमारे प्रियतम प्राणाधार, हृदयसर्वस्व के हाथ में ही हमारे जीवन की बागडोर है, जब हमारा 'अपना' ही हमारे भविष्य का विधायक है तो फिर आशङ्का किस बात की, भय काहे का?

परन्तु हाय रे मनुष्य की दुर्बलता! मनुष्य अपने योगक्षेम के पीछे परेशान है और इसी गोरखधन्धे में बुरी तरह उलझा हुआ है। इस उलझन को वह जितना ही सुलझाना चाहता

है उतनी ही उलझन और उलझती जाती है और इस चक्रव्यूह को बेधनेवाला अभिमन्यु कभी पैदा ही नहीं हुआ। जिसने इसे रचा है वही इसका रहस्य जानता है और उसी के साथ हम भीतर प्रवेश भी कर सकते हैं।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

प्रभु के प्रकाश के बिना इस अन्धकार मे एक डेग आगे बढ़ना खतरे से खाली नहीं है। हृदय में उसकी मूर्ति, चित्त में उसकी स्मृति, प्राणों में उसकी प्रीति, फिर आँखें जिधर जायँगी वहीं हरि, मन जहाँ जायगा वहीं मनमोहन हँसते खड़े निहारते रहेंगे। उस समय हाथ से जो कुछ भी कर्म होगा वह भगवत्प्रीति को उत्पन्न करनेवाला होगा और समग्र जीवन श्रीकृष्णार्पण की एक मधुर सुन्दर शृंखला हो जायगा। उस समय मन मे कभी किसी अनिष्ट की आशङ्का रह ही नहीं जायगी; जिसने इष्टदेव के दर्शन कर लिये, वन्दन कर लिये, उसके लिए फिर 'अनिष्ट' कैसा, प्रतिकूलता कैसी ?

मनुष्य तो सत्य को त्याग कर मृगजल से तृप्त होना चाहता है। वह बुरी तरह इसके पीछे भाग रहा है—शान्ति के लिये, सुख के लिये, आनन्द और परितृप्ति के लिये, और मिलता है उसको बदले में दुःख, अशान्ति, ज्वाला और जलन। और ईश्वर मे विश्वास ? जिस प्रभु ने गर्भ में हमारी रक्षा की, जो प्रतिपल हमें सम्हाल रहा है, जो प्रत्येक दशा में

हमारी रक्षा कर रहा है क्या वह भविष्य मे हमे निराधार छोड देगा ? एक पल भी उसके सहारे के बिना हम टिक सकेंगे ? हाय हम कितने अविश्वासी हैं ? अपने को 'आस्तिक कहते हो और जरा-सा झोका (और वह भी काल्पनिक) आने पर तिलमिला उठते हो ! झूठी आशंका मे सारा विश्वास हिल जाता है ? इस प्रकार परास्त मत होओ, मैं हर समय हर दशा मे तुम्हारे साथ हूँ, सदा-सदैव तुम्हारे भीतर-बाहर मैं सँभालता आ रहा हूँ और बराबर सँभालता रहूँगा। निश्चिन्त हो जाओ। भूल गये ? आज ही तो तुम्हे सुनाया है—

भोक्तारं यज्ञतपसा सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृद सर्वभूताना ज्ञात्वा मा शान्तिमृच्छति ॥
(गीता ५ । २६)

मैं सब का महेश्वर होता हुआ भी अपने भक्तो का भक्त हूँ। जगत् के सभी आश्रय छोडकर केवल एक मुझमे ही विश्वास करो। मैं तुम्हारे योगक्षेम का भार अपने ऊपर लिए हुए हूँ। मुझे छोड़कर कही मत जाओ। किसी का आश्रय न लो, किसी को अपना 'प्रभु' न मान लो। तुम्हारा स्वामी तो 'मैं' हूँ ही। तुम्हारी लाज मेरी लाज है। भला, तुम्हारी लाज मैं कैसे जाने दूँगा ? विश्वास करो, मै तुम्हारे लिये कुछ भी उठा न रक्खूँगा। तुम्हारी मनचाही होगी, जो चाहोगे, जैसा चाहोगे, तुम्हारे हित की दृष्टि रखते हुए वही करूँगा ! तुम अपना हिता-हित क्या जानो ? तुम तो अशुभ मे ही शुभ देखते हो, अहित में

ही हित समझते हो। तुम्हारे शुभाशुभ में हिताहित का एकमात्र ज्ञान मुझे है और तुम्हारे लिये सदा वही करूँगा जो शुभ और हित हो। लोक की ओर से आँखें मूँद लो, मेरी ओर देखो, मैं तुम्हें अपनी गोद में छिपा लेने के लिये व्याकुल हूँ। मैं सामने खड़ा हूँ, मेरी ओर देखते क्यों नहीं? मैं तुम्हें अपनी छाती में छिपा लूँगा, आलिगन में डुबा लूँगा चुम्बन में नहला दूँगा। मेरी गोद में आ जाओ, जगत् की आँच तुम तक आ नहीं सकती! निर्भय हो जाओ। मेरा अभयदान स्वीकार करो! मेरा हाथ सदैव तुम्हारे मस्तक पर है! मैं सदैव तुम्हें प्राणों में छुपाये हुए हूँ। घवड़ाओ मत। सब कुछ मंगल ही होगा! अन्यथा हो ही नहीं सकता। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ। मैं सदैव तुम्हारे आगे-पीछे, ऊपर-नीचे भीतर-बाहर हूँ—डरो मत, आगे बढ़ो—

तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चय.।

(गीता २। ३७)

यह तो युद्धक्षेत्र है प्यारे! यह तो कर्मभूमि है न। इसमें घवड़ाये कि गये! जब मैं तुम्हारा हाथ पकड़े हुए हूँ तो घवड़ाना क्यों, डरना किसलिये? निर्भ्रम दृष्टि से, आँखें खोलकर मेरी ओर देखते रहो और प्रसन्नता, आनन्द, निर्द्वन्द्वता, मस्ती और अदा के साथ युद्ध करते जाओ। युद्ध में मेरा बल तो तुम्हें प्राप्त है ही। तुम्हारे जीवन-रथ की बागडोर मेरे हाथ है। युद्ध का तुम्हें तो बस एक अभिनय मात्र

करना है। मैं तुम्हारे इन शत्रुओं को पहले ही से परास्त कर चुका हूँ, बध कर चुका हूँ। तुम्हें तो बस निमित्तमात्र होना है। जीत तो तुम्हारी पहले ही से निश्चित है। असुर के साथ इस संग्राम में मैं प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्षरूप से तुम्हारी सहायता कर रहा हूँ। तुम्हें कोई हरा नहीं सकता, तुम्हें कोई जीत नहीं सकता। तुम्हें मेरी शक्ति प्राप्त है। तुम में मैं बैठा हुआ हूँ और तुम्हारे द्वारा मैं ही लड़ रहा हूँ। विजय के लिये ही तुम यहाँ हो। दुनिया देखे तो सही कि तुम्हारी सच्ची शक्ति क्या है! स्त्री की भाँति, कायर की भाँति, आश्रयहीन नपुंसक की भाँति मुँह छिपाकर युद्ध से भागना भी चाहोगे तो भागकर कहाँ जाओगे? मैं तुम्हें पीछे खिसकने दूँगा ही नहीं। मेरा नाम न हँसाओ। मेरे भक्त कायर-नपुंसक होते हैं—ऐसी बात मत कहो। मैंने अपने को पूरी तरह तुम में ढाल दिया है।

तुम्हारा कोमल-मधुर रूप भी है—यह मुझे मालूम है। कोमलता, सरलता, मधुरता, भावुकता आदि का पता मुझे है। मुझसे तुम्हारा क्या छिपा है? परन्तु प्यारे! यह न भूलो कि तुम 'मेरे' हो और मेरे इस विराट् अभिनय के एक पात्र हो। जब जैसा पार्ट सौंपूँ मस्ती के साथ अदा करो। किसी पार्ट-विशेष में मोह और आसक्ति क्यों? ओ मेरे संकेत पर नाचनेवाले! मेरी आज्ञा मानकर तुम्हें अपने प्रिय-से-प्रिय का 'मोह' तोड़ देना होगा! मैं अपने-अभिनयके सौन्दर्य के लिये

तुम्हे जहाँ जिस प्रकार चाहूँगा, वहीं, उसी प्रकार विना किसी संकोच और हिचकिचाहट के प्रसन्नतापूर्वक तुम्हे आनन्द मनाना चाहिये क्योंकि आनन्द तो सस्था, व्यक्ति, वातावरण मे नहीं है। जो कुछ रस तुम्हे वहाँ मिलता है वह मेरी छाया के कारण और इस संसार मे तथा इससे परे और पहले अनादि काल से 'मैं'—केवल मैं ही तुम्हारा एकमात्र साथी था, मैं ही हूँ और मैं ही रहूँगा।

कोई शिकायत नहीं

संसार में बहुत थोडे ही व्यक्ति हैं जिन्हे अपनी परिस्थिति, पेशा, आय से कोई शिकायत न हो। प्राय व्यक्ति ऐसा समझते हैं कि उनकी योग्यता को उचित आदर नहीं मिला, उनके योग्य काम नहीं मिला, उनकी प्रतिभा के अनुरूप उनकी आय न हुई। यह शिकायत फैलती चली जाती है और हर वस्तु, हर परिस्थिति, हर व्यक्ति, हर वातावरण, यहाँ तक कि अपने आपके प्रति भी एक खीझ, ग्लानि, घृणा और वितृष्णा का भाव भर जाता है और लगता हे कि सारा जीवन व्यर्थ और अकारथ ही चला गया। जीवन और जगत के प्रति शिकायत की यह बीमारी कितनी भयकर है, कितनी सत्यानाशी है यह

कह कर बताया नहीं जा सकता। यह हमारे सम्पूर्ण जीवन को और जगत् के प्रति हमारे सम्पूर्ण दृष्टिकोण को दूषित और विपाक्त बना कर हमें लोक और परलोक के समस्त सुखों से वंचित कर देती है। यह निश्चय ही एक मानसिक बीमारी है और इसका इलाज होना चाहिए। इस बीमारी से ग्रस्त व्यक्ति समाज का अभिशाप है, पृथ्वी का भार है। यह एक ऐसा घुन है कि जहाँ जिस व्यक्ति में लगा उसे चाट कर समाप्त करके ही छोड़ता है। आज भी दुनिया में इस आत्मविध्वंसी संक्रामक महामारी का दौरदौरा है। जिसे देखिए वही शिकायतों का रजिस्टर खोले बैठा है।

यह संभव नहीं कि दुनिया हम जैसा चाहें वैसे ही चले। यह भी संभव नहीं कि हमारा मार्ग फूलों से बिछा हो। जीवन में शूल भी आते हैं फूल भी, दुःख भी सुख भी, आशा भी निराशा भी, हर्ष भी विषाद भी, मिलन भी विछोह भी। इस द्वन्द्व का ही नाम जगत है, इस विविधता का नाम विश्व है, इस बनती मिटती तस्वीरों को ही 'संसार' कहा जाता है। यहाँ जो आया उसे दुःख-सुख, हर्ष - विषाद, मिलन - विरह के दुहरे आँच मे जलना ही पड़ेगा और शायद यही जीवन की शोभा है, यही जगत का सौन्दर्य है यही यहाँ आने का मीठा अनुभव है। यहाँ एकरसता नहीं है, monotony नहीं है। इस बगीचे मे एक ही रूप, एक ही रंग, एक ही गंध के पुष्प नहीं हैं। विविधता ही इस विश्व-वाटिका

की अपनी निराली शोभा है। जीवन और जगत के प्रति जो सदा शिकायत का भाव लिए फिरते हैं उनकी मनोरचना का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट पकड़ मे आता है कि ऐसे लोग अपने कर्त्तव्य की अपेक्षा अपने भ्रान्त अधिकारों के प्रति अधिक सजग हैं, अपनी ओर न देखकर सदा दुनिया की ओर देखा करते हैं और चूँकि उनके मन में ग्लानि और विषाद या दूसरे शब्दों मे आत्मप्रतारणा (self condemnation) के भाव भरे हुए होते हैं अतएव उनकी सम्पूर्ण दृष्टि ही दूषित एवं कलुषित हो जाती है। हमारा मन जैसा होता है वैसा ही होता है यह जगत। यह ससार तो white oil की तरह है। यह हमारे मन का रग पाकर रगीन हो जाता है, मन का रूप पाकर रूपवान बन जाता है, मन का रस पाकर रसमय हो जाता है। गर्ज यह कि मन की जैसी छाया इस जगत पर पडेगी वैसा ही दृश्य हमें दिखाई देगा। मन सुन्दर तो जगत सुन्दर, मन गन्दा तो जगत गन्दा। मन के हारे हार है मन के जीते जीत।

मनोमात्रं जगत् कृत्स्न मन· पर्यन्त मण्डलम्।
मनो व्योम मनो भूमिर्मनोवायुर्मनो महान्॥ योगवर्ग १।४

शिकायती प्राणियों मे निश्चय ६६ प्रतिशत ऐसे होते हैं जिन्हें पेट की कोई न कोई बीमारी होती है-- अजीर्ण या कब्ज। प्राय देखा गया है कि कब्जवाले शिकायती तबीयत के आदमी होते हैं। इसलिए इन लोगो के मन का इलाज हो

इसके पहले इनके पेट का इलाज होना जरूरी है। और पेट ठीक रखने के लिए एक मात्र अमोघ उपाय है प्रकृति का अनुसरण, प्राकृतिक नियमों का पालन। प्राकृतिक नियम क्या हैं यह जानते तो सभी हैं पर अनुसरण कितने करते हैं? इसके बाद है मन को प्रसन्न रखने की कला का ज्ञान। जिसने हर हालत मे प्रसन्न रहना सीख लिया उसने सारी मुसीबतों पर विजय पा ली। आरम्भ में थोडा अभ्यास करना पड़ता है, प्रसन्न मुखमुद्रा वनाये रखने के लिए। जव यह अभ्यास दृढ़ हो जाता है तो यह सहज रूप में स्वाभाविक वन जाता है और हम हर हालत में प्रसन्न रहते हैं, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, मिलन-विरह समान रूप से हमारे लिए प्रसन्नता के कारण वन जाते हैं, विपरीत वयार में भी प्रसन्नता का दिया वुझता नहीं। प्रसन्नता का अर्थ है जीवन और जगत के शुक्ल पक्ष पर दृष्टि, शुभ, मंगल, आनन्द, सत्य, शिव, सुन्दर पर दृष्टि, अपने सच्चिदानन्द स्वरूप मे सदा प्रतिष्ठित रहने की कला का ज्ञान, अनुभव, अभ्यास। सहज भाव मे अखण्ड आनन्दानुभूति। इसका एक सहज नुस्खा है—

१. जीवन और जगत मे, अपने वातावरण मे, साधारण से साधारण वस्तुओ और घटनाओं में रस लेना सीखिए। अपने सुख के लिए असाधारण वस्तुओं और घटनाओं पर आश्रित मत होइए। संसार की विविधता को खुलीआँखों

४. दूसरों के सुख-दु ख में शामिल रहिए, अपने आपमें ही घिरे न रहिए। आपके निकट के जो लोग हैं, जो वातावरण है, जो परिस्थिति है उसे अधिक से अधिक प्रसन्न रखने के प्रयत्न मे लगे रहिए। छोटी मोटी कोई न कोई सेवा का कार्य नित्य करिए। भटकते हुए, भरमते हुए मनुष्य को अपने प्यार, धैर्य, सेवा से सुखी बनाइए। स्वयं प्रसन्न रहिए, वातावरण को प्रसन्न रखिए। मन को सदा शान्त और प्रसन्न रखिए और जीवन की प्रत्येक घटना में उस लीलामय की लीला का रसास्वादन करिए। मस्त रहिए, सदा मस्त रहिए।

५. प्रसन्न रहने का अभ्यास डालिए, आपका चेहरा सदा प्रसन्न रहे, आप सदा मुसकाते रहें, आपका मुखमंडल आनंद की लहरों मे, खुशी की मौजों मे खिला रहे—कमल की तरह खिला रहे और खिलता ही रहे।

कुछ लोगों का स्वभाव हो जाता है कि व्यर्थ ही, अकारण ही अपने अड़ोस पड़ोस से, अपने वातावरण से, अपनी परिस्थिति से, अपने हितमित्रो से, परिवार वालो से, पत्नी और वच्चो से झगड़ते रहते हैं, किच-किच करते रहते है और घर को नरक वनाये रहते हैं। सदा महाभारत छिड़ा रहता है इनके अदर और वाहर। परन्तु ऐसे लोग भी हैं जो जीवन के कटकाकीर्ण पथ पर हँसते, मुसकाते, गीत गाते, सीटी वजाते चलते हैं जैसे कोई नई वहू अपने प्यारे के पथ मे जा रही हो। उन्हे कभी किसी से कोई शिकायत नहीं। इन्हे

अपने से, अपने परिवार के अपने वातावरण से अपनी परिस्थिति से कोई शिकवा नहीं, कोई शिकायत नहीं। मतभेद हो सकता है पर प्रेम में भेद नहीं। सदा प्रसन्न, सदा हँसमुख। विनोद और चुहल से भरी जवानी जो कभी भी, किसी भी अवस्था में निराशा और विषाद को स्वीकार ही नहीं करती। इसलिए आप सदा प्रसन्न क्यों न रहे, सदा हँसते क्यों न रहे? एक बहुत बचपन में पढ़ी अँगरेजी कविता याद आ रही है—

Why don't you laugh, young man, when troubles come,
Instead of sitting, round so sour and glum?
You cannot have all play,
And sunshine every day;
When troubles come,
I say, why don't you laugh?
Why don't you laugh?
It will ever help to soothe,
The aches and pains,
No road in life is smooth;
There is many an unseen bump,
And many a hidden stump over which you'll have to jump Why do'nt you laugh?

Why don't you laugh ? Don't let your spirit wilt;
Don't sit and cry because the milk you have spilt ;
If you would mend it now,
Pray let me tell you how ,
Just milk another cow, why don't you laugh ?
Why don't you laugh, and make us all laugh too,
And keep us mortals all from getting blue ?
A laugh will always win,
If you can't laugh, just grin
—Come on, let us all join in !
Why don't you laugh ?

यह कविता इतनी प्यारी है कि मुझे कंठस्थ है, हृदयस्थ भी। मैं चाहूँगा कि इसे प्रत्येक व्यक्ति, जो प्रसन्नता, आनन्द और मस्ती का जीवन बिताना चाहता है अवश्य ही याद कर ले। कर्म में जब उपासना का रस आ जाता है तब कर्म ही जीवन का सबसे बड़ा आनन्द, सबसे बड़ा सुख, सबसे निराला सौन्दर्य प्रतीत होने लगता है—'श्री माताजी' के ये शब्द चिर स्मरणीय हैं—

'Let us work as we pray, for indeed work is the body's best prayer to the Divine'—हम उसी

भाव से कम करें जिस भाव से पूजा करते हैं क्योंकि कर्म ही भगवान् की सबसे उत्तम उपासना है।

६. वर्तमान को सफल बनाइए। अतीत की त्रुटिया पर झींकते रहना तथा भविष्य के मनमोदक खाते रहना स्वस्थ और सुखी जीवन शैली के सर्वथा विपरीत है। भविष्य में मैं ऐसा करूँगा, वैसा करूँगा, यों सुखी होऊँगा, वो सुखी होऊँगा की कल्पनाएँ शेखचिल्ली की कहानी है। भविष्य पर वर्तमान के सुख को मत टालिए। मत ऐसा सोचिए कि ऐसा हो जायगा तब मैं सुखी हूँगा। वर्तमान मे प्राप्त अपनी परिस्थिति, अपनी स्थिति, अपनी आय, अपनी व्यवस्था को ही परम आनन्द-दायक बनाइये। इसका एक ही उपाय है कि वर्तमान का सुन्दर से सुन्दर उपयोग कीजिये। 'काल करै सो आज कर आज करै सो अब्ब' बडी सुन्दर सीख है। भविष्य के सुनहले स्वप्नों में वर्त्तमान के गर्म लोहे पर चोट मारना न भूलिये। भविष्य के प्रति विश्वासशील रहिये पर बनाइये अपने वर्तमान को ही मधुर। जो व्यक्ति प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं करता वह जीवन भर पछताता रहता है। स्कूल का छात्र कालेज का स्वप्न देखता है, कालेज का छात्र प्रोफेसर बनने के हौसले मे डूबा हुआ है, प्रोफेसर प्रिंसिपल बनना चाहता है और प्रिंसिपल वाइस चैंसलर। एक सोचता है कि दूसरे पद को पाकर ही वह सुखी हो सकता है, अपने आप मे वह अपने वर्तमान पद से खिन्न हुआ, असंतुष्ट, क्षुब्ध। उन्नति का यह

सोपान नही है। उन्नति का एक मात्र सोपान यही है कि वर्तमान का सुन्दर से सुन्दर उपयोग किया जाय, वर्तमान को उत्तम से उत्तम, मधुर मे मधुर बनाया जाय। यह सुन्दरता और मधुरता स्वत' आती है जब हम अतीत पर झींकना और भविष्य पर महलें खडा करना वन्द कर वर्त्तमान को, सामने आये उस क्षण को भगवान् का रूप समझ उसका सहर्ष स्वागत करते हैं, उसका बढ़िया उपयोग करते हैं। अतीत के गौरव और भविष्य के स्वप्न की अपेक्षा वर्त्तमान का कर्त्तव्य अधिक गौरवपूर्ण, सुन्दर और मधुर होता है।

सच पूछा जाय तो हम वर्त्तमान के क्षण में ही जीते हैं। अवश्य ही भविष्य के लिए प्लैन बनाया जाता है परन्तु उस पर अधिक वल देने का अर्थ है वर्त्तमान की उपेक्षा। दिव्य भविष्य का निर्माण वर्त्तमान में ही होता है। वर्त्तमान में सुखी, प्रसन्न, संतुष्ट, जीने की कला जिसे आ गयी उसका भविष्य भी सुखी, प्रसन्न और संतुष्ट ही होगा। जिसका वर्त्तमान घोर कर्मठता का है उसका भविष्य अवश्य ही सुनहला है। साल के ३६५ दिनों मे एक-एक दिन, एक-एक क्षण का उत्तम से उत्तम उपयोग ही सफल जीवन की कुञ्जी है। और ऐसा जीवन जीने वाला वरावर यह अनुभव करता है कि किसी के प्रति कभी भी उसे कोई शिकायत नहीं।

अलमस्ती का आलम

संतों और साधकों के जीवन में एक अजीब बेफिक्री या निश्चिन्तता और अलमस्ती का आलम देखने को मिलता है। वे कभी कल की परवा नहीं करते। भगवान् मंगलमय हैं और उनका संपूर्ण विधान मंगलमय है—इसमें उनका अविचल और अखंड विश्वास होता है। यह विश्वास किसी घटनाविशेष पर आधारित नहीं होता ; वह श्वास-प्रश्वास की भाँति सर्वथा और सर्वदा स्वाभाविक होता है। रामभरोसे वे सदा ही निर्द्वन्द्व जीवन बिताते हैं क्योंकि वे राम में और राम उनमें बसते हैं—वाणी राम के गुणानुकथन में, श्रवण उन्हीं के कथाश्रवण में, हृदय उन्हीं की अनुभूति में, मन उनके चिन्तन में, प्राण उन्हीं के रसपान में और अन्तःकरण उन्हीं की दिव्य निर्मल ज्योति से जगमग-जगमग। इस प्रकार

सोपान नहीं है। उन्नति का एक मात्र सोपान यही है कि वर्तमान का सुन्दर से सुन्दर उपयोग किया जाय, वर्तमान को उत्तम से उत्तम, मधुर मे मधुर बनाया जाय। यह सुन्दरता और मधुरता स्वतः आती है जब हम अतीत पर झाँकना और भविष्य पर महलें खड़ा करना बन्द कर वर्त्तमान को, सामने आये उस क्षण को भगवान् का रूप समझ उसका सहर्ष स्वागत करते हैं, उसका बढ़िया उपयोग करते हैं। अतीत के गौरव और भविष्य के स्वप्न की अपेक्षा वर्त्तमान का कर्त्तव्य अधिक गौरवपूर्ण, सुन्दर और मधुर होता है।

सच पूछा जाय तो हम वर्त्तमान के क्षण में ही जीते हैं। अवश्य ही भविष्य के लिए प्लैन बनाया जाता है परन्तु उस पर अधिक बल देने का अर्थ है वर्त्तमान की उपेक्षा। दिव्य भविष्य का निर्माण वर्त्तमान में ही होता है। वर्त्तमान में सुखी, प्रसन्न, संतुष्ट, जीने की कला जिसे आ गयी उसका भविष्य भी सुखी, प्रसन्न और संतुष्ट ही होगा। जिसका वर्त्तमान घोर कर्मठता का है उसका भविष्य अवश्य ही सुनहला है। साल के ३६५ दिनों मे एक-एक दिन, एक-एक क्षण का उत्तम से उत्तम उपयोग ही सफल जीवन की कुञ्जी है। और ऐसा जीवन जीने वाला बराबर यह अनुभव करता है कि किसी के प्रति कभी भी उसे कोई शिकायत नहीं।

अलमस्ती का आलम

संतों और साधकों के जीवन में एक अजीब बेफिक्री या निश्चिन्तता और अलमस्ती का आलम देखने को मिलता है। वे कभी कल की परवा नहीं करते। भगवान् मंगलमय हैं और उनका संपूर्ण विधान मंगलमय है—इसमें उनका अविचल और अखंड विश्वास होता है। यह विश्वास किसी घटनाविशेष पर आधारित नहीं होता; वह श्वास-प्रश्वास की भाँति सर्वथा और सर्वदा स्वाभाविक होता है। रामभरोसे वे सदा ही निर्द्वन्द्व जीवन बिताते हैं क्योंकि वे राम में और राम उनमें बसते हैं—वाणी राम के गुणानुकथन में, श्रवण उन्हीं के कथाश्रवण में, हृदय उन्हीं की अनुभूति में, मन उनके चिन्तन में, प्राण उन्हीं के रसपान में और अन्तःकरण उन्हीं की दिव्य निर्मल ज्योति से जगमग-जगमग। इस प्रकार

संत-जीवन की मस्ती स्वतःस्फूर्त है, आनन्दोद्भूत है, क्योंकि वह मंगल-मिलन का परम पावन साधन है, प्यारे से मधुर मिलन को चीरतार्थ करानेवाली वह सखी है जो साजन से मिला कर स्वयं मिलन में घुल जाती है। तुलसीदास का एक दोहा याद आ रहा है—

तुलसी बिरवा बाग की, सींचे ही कुम्हिलाय।
राम भरोसे जो रहै, पर्वत पर लहराय॥

ये सत रामभरोसे पर्वत पर लहरानेवाली वल्लरी हैं क्योंकि वे सदा, सदैव, सर्वथैव भगवान् के आसरे पर जीवन बिता रहे हैं। सच पूछिए तो इनका जीवन भी अपना जीवन न होकर राम का जीवन हो जाता है और उसके समस्त सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, मिलन-विरह, लाभ-हानि, यहाँ तक कि उनका पाप-पुण्य भी राम का हो जाता है। समर्पण के अनन्तर सन्त का अपना कुछ भी नहीं रह जाता, सब कुछ राम का हो जाता है—

माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः,
स्वामी रामो मत्सखा रामचन्द्रः।
सर्वस्वं मे रामचन्द्रः दयालु,
तस्मादन्यं नैव जाने न जाने॥

राम का होकर भी जो दूसरे का भरोसा करता है वह सत तो क्या साधक भी नहीं कहला सकता। और सच्चे समर्पण के बाद साधक की क्या स्थिति होती है, कोई कैसे बतला सकता है? उपनिषदें कहती हैं—

यथा नद्यः स्यन्दमाना समुद्रे
अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय
तथा विद्वान्नामरूपे विहाय
ब्रह्मणि गच्छति नामरूपाद्विमुक्ता'।

जैसे, नदी समुद्र में लीन हो जाने पर अपना नाम-रूप खो कर समुद्र का नाम और समुद्र का रूप ले लेती है, उसी प्रकार जीवन ब्रह्म में मिलकर ब्रह्माकार ब्रह्मैव हो जाता है। संतों ने इस मिलन का रस छक कर खूब पिया और खुल कर पिलाया है, दोनों लुटाया है। वे इस मिलन में, अन्तर-बाहर राम ही राम का अनुभव करते हुए मिलन के रस में चौबीसो घण्टे आठो पहर छके रहते हैं। यह तपस्या अथवा आराधना का फल नहीं है, यह है प्यारे की प्रीति का करिश्मा—

अन्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किम्।
नान्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किम्॥
आराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किम्।
नाराधितो यदि हरिस्तपसा तत किम्॥

यदि अन्दर-बाहर हरि हैं तो तप की क्या आवश्यकता? यदि अन्दर-बाहर हरि नहीं हैं तो तप से क्या लाभ? यदि हरि की आराधना की तो तप की क्या आवश्यकता? यदि हरि की आराधना न की तो तप से क्या लाभ? इस प्रकार संतों की यह निश्चिन्तता समर्पण के फलस्वरूप है, यह शाहंशाही स्थिति एक ऐसी स्थिति है जिसमें न कोई चाह है न चिन्ता—

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुआ बेपरवाह।
जाको कछू न चाहिए, सो नर साहंसाह॥

संत राम भरोसे पाँव पसार कर सोते हैं। सच तो यह है कि जिसने संसार से हाथ समेट लिए वह सहज ही अपने पैर पसार लेता है। और संत के मन मे अपनी कोई इच्छा उगती ही नहीं, अपनी निजी कोई चाह होती ही नहीं। वे अपनी मस्ती के आलम में गुनगुनाते हैं—

मालिक तेरी रजा रहे औ तू ही तू रहे।
बाकी न मैं रहूँ न मेरी जुस्तजू रहे॥
राजी हैं हम उसी में जिस में तेरी रजा है।
याँ यूँ भी वाह वा है औ वूँ भी वाह वा है॥

संकल्प-विकल्प और राग-द्वेष से शून्य सर्वथा उनका जीवन हरिमय, प्रेममय होता है और सभी संत डंके की चोट कहते हैं "अब हम अमर भये न मरेंगे—राम मरें तब हमहूँ मरेंगे"। गीता कहती है—"न मे भक्तः प्रणश्यति।" यह साक्षात् भगवान् की वाणी है कि भक्त का कभी नाश नहीं होता। इसका सीधा अर्थ यही है कि संत राम में रमता है, राम में वह रमण करता है, राम उसमें रमण करते हैं—यह एक ऐसी अनुभूति है जिसकी कल्पना ही हो सकती है—वर्णना नहीं। इस स्थिति में ही संत सदा निवास करते हैं और यही है उनकी अविचल निश्चिन्तता और अलमस्ती के आलम। इसे ही कहते हैं अखण्ड महासमाधि में प्रेमयोग।